

दृग्-दृश्य

विवेक

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

दृग्-दृश्य विवेक

[प्रवचन]

(मूल भाषा-टीका सहित)

•

प्रवक्ता :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

•

(श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता वाक्यसुधा
श्रीमद् ब्रह्मानन्द भारती प्रक्लृप्तया टीकया सहिता)

प्रकाशक :
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान
सीके. ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी–१
फोन : ६२६८३

●

प्रथम संस्करण : २२००
सम्वत् : २०४३
सन्यास जयन्ती
९–२–८७

मूल्य :

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
सी-के. ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी–१

20-/

आशीर्वाद

दृग्-दृश्य विवेक अथवा वाक्यसुधा ग्रन्थका लेखक कौन है, कब लिखा, कहाँ लिखा इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। श्रीशंकराचार्यका लिखा हुआ हो अथवा श्रीभारती तीर्थ गुरुका, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि इस ग्रन्थमें प्रतिपादित पदार्थ श्रुतिके अनुकूल है, सयुक्तिक है, अनुभवारूढ़ है तो इसका लेखक कोई भी क्यों न हो, हम उसके प्रति अपना महा आदर-भाव प्रकट करते हैं।

आदिकालीन ऋषियोंको भी जो ज्ञान होता है, वह भी अनादि सम्प्रदायाविच्छेदसे प्राप्त अज्ञातकर्तृक वेदोंसे ही प्राप्त होता है। श्रुतिसिद्ध परमार्थके सम्मुख, प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध वस्तु टिक नहीं सकती। ब्रह्मात्मैक्यका बोध होते ही समग्र प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार बाधित हो जाता है। श्रुति स्वयं भी वाक्यार्थका साक्षात्कार करा-कर बाधित हो जाती है। जैसे माता अपने पुत्रके हितका सम्पादन करनेके लिए अपनी बलि भी चढ़ा देती है वैसी ही हित-भावना श्रुतिकी है—कोटि-कोटि माताओंसे बढ़कर!

श्रुतिका तात्पर्य निश्चय करनेके लिए और उसपर आरूढ़ होनेके लिए मननकी नितान्त आवश्यकता है। श्रुति-मतिके अनुसार ही निदिध्यासन होता है।

यह 'दृग्-दृश्य विवेक' नामका प्रकरण ग्रन्थ जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त सरल, सुगम शैलीसे तत्त्व-विवेकके द्वारा ब्रह्मात्मैक्यका आवरण-भंग करनेमें अत्यन्त उपकारी है। इसके अध्ययन-चिन्तनसे जिज्ञासुओंका परम कल्याण होगा, यह सुनिश्चित है।

हमारे परम प्रिय श्री आर० बी० गुप्तने इसका अध्ययन करके लाभ उठाया है। और अब वे अपने सम्पूर्ण व्यय-दानके द्वारा इसको प्रकाशित करके बहुत ही कल्याणकारी कार्य कर रहे हैं। भगवान् इनके अन्तःकरणको शुद्ध करें और इसी प्रकारकी सद्भावना और सत्प्रेरणा देता रहे।

इस ग्रन्थपर प्रवचन किये कितने वर्ष हो गये हैं, यह तो मुझे स्मरण नहीं है परन्तु इसके मनन-निदिध्यासनसे जिज्ञासुका मंगल कल्याण होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है, सुनिश्चित है।

हरि ओम्

बम्बई
२५-१-८७

अखण्डानन्द (सरस्वती)

20 · 7



महाराजश्री के साथ श्री [illegible] जैन [illegible]

दृग्-दृश्य विवेक

प्रस्तावना

एक बालकके हाथमें पुस्तक थी। मैंने कहा—'यह स्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वतीकी रचना है।'

बालकने कहा—'इसपर लेखकका नाम सुब्रह्मण्य शर्मा छपा है।

मैंने बतलाया—'गृहस्थाश्रममें स्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वतीका नाम सुब्रह्मण्य शर्मा था।'

नाम दो हैं; किन्तु जहल्लक्षणासे उभय नामोंका जो अभिधेय अर्थ है—व्यक्ति है, वह एक है। नाम दोनों छोड़ दो, वस्तु एक है।

विचार-सागरका एक दोहा है—

ज्यों अविकृत कौन्तेयमें राधापुत्र प्रतीति।
चिदानन्द घन ब्रह्ममें जीव भाव तेहि रीति॥

जैसे कुन्तीनन्दन कर्ण हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ा, लेकिन लोग उन्हें राधापुत्र समझने लगे और उनका नाम भी राधापुत्र हो गया। यदि कोई कहे—क्या ये राधापुत्र नहीं हैं?

दूसरा—'नहीं, ये राधापुत्र नहीं हैं।

पहिला—'तब सीतापुत्र होंगे या सावित्रीपुत्र होंगे!'

दूसरा—'नहीं।' ऐसा भी नहीं।

अर्थात् ऐसे हजार विकल्प उनके विषयमें करो तो भी राधा-पुत्र समझनेमें जैसो भ्रान्ति है, वैसी ही भ्रान्ति सीतापुत्र या सावित्री-पुत्र समझनेमें भी है। कुछ न समझें तो भी भ्रान्ति है। उनको जब कुन्तीपुत्र समझोगे, जब यह जान जाओगे कि कर्ण कुन्ती-पुत्र है; तब राधापुत्र, सीतापुत्रादिकी भ्रान्तियाँ निवृत्त हो जायेंगी। अनिर्वचनीयता भी नहीं रहेगी। चिदानन्दघन ब्रह्ममें जीवभाव इसी रीतिसे जुड़ा है, अर्थात् एक ही वस्तुके दो नाम हैं—एक नाम है ब्रह्म, दूसरा नाम है जीव। जीव नामका जो दूसरा अर्थ समझ लिया गया है, वह गलत है। वस्तुतः जीव देहवाला, इन्द्रियवाला, अन्तःकरणवाला, बुद्धिवाला, अज्ञानवाला नहीं है। आत्मा नाम-रूपकी कल्पनाओंसे न्यारा है।

मैं बचपनमें मोकलपुरके बाबाके दर्शन करने जाता था। नाव-पर बैठकर गंगा पार करना पड़ता था। दो-तीन मील नाव चलती थी। उसपर बैठे-बैठे इस पुस्तकको रटता था। परन्तु उस समय इसका नाम 'वाक्य-सुधा' जानता था।

इस पुस्तकके विषयमें दो प्रकारके मत हैं—छपी पुस्तकोंमें-से अधिकांशमें यह लिखा मिलता है कि यह भी श्रीशङ्कराचार्यजीकी रचना है, लेकिन इसपर एक टीका स्वामी ब्रह्मानन्द भारतीकी है। उन्होंने अपनी टीकामें लिखा है कि यह पुस्तक श्रीभारतीतीर्थ गुरुकी रचना है।

पञ्चदशीकार स्वामी विद्यारण्यजीके संन्यास-गुरु स्वामी शङ्करा-नन्दजी महाराज थे और वेदान्त पढ़ानेवाले गुरु थे—स्वामी भारती-तीर्थ गुरु।

यह पुस्तक साधकोंके लिए बड़े कामकी है। जो लोग द्रष्टा-दृश्यका विवेक करना चाहते हैं, उनके लिए यह बड़े महत्त्वकी है।

यह पुस्तक गुजराती टीका सहित अनेक रूपोंमें मिलती है। मराठीमें भी इसका अनुवाद हुआ है। संस्कृतमें इसपर अनेक टीका-टिप्पणियाँ हैं। हिन्दीमें भी इसके अनुवाद अनेक स्थानोंसे प्रकाशित हुए हैं।

इसका प्रचलित नाम 'वाक्य-सुधा' है; किन्तु पुस्तकमें क्या वर्णन है—यह 'वाक्य-सुधा' कहनेसे स्पष्ट नहीं होता। दृग्-दृश्य-विवेक' कहनेसे स्पष्ट हो जाता है।

'विवेक' शब्दका अर्थ है—अलग-अलग करना। 'विचिर् पृथग्-भावे' इसी विचिर् धातुसे विवेचन बनता है।

'विवेचन विवेक।' एकमें मिल गयी कई वस्तुओंको अलग-अलग कर देना विवेक है। जैसे तिल-चावल मिल गये हों तो काले-काले तिलोंको चावलोंसे अलग करना 'तिल-तन्दुल-विवेक' है। ऐसे ही 'धर्माधर्म-विवेक' धर्म और अधर्मको अलग-अलग समझना है। 'नित्यानित्य-विवेक' है कि क्या नित्य है और क्या अनित्य है। इस ग्रन्थमें जो विवेक किया गया है, वह विवेक है—दृक् और दृश्यका।

'पश्यतीति दृक्' 'दृश्यते इति दृश्यम्'—जो मूल दृष्टि है, वह दर्शन-क्रियाके साथ मिलकर द्रष्टा हो गयी है। वस्तुतः वह 'पश्' है—दृङ्मात्र-ज्ञानमात्र है। उसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद, द्रष्टा और दृश्यका भेद नहीं है; परन्तु दर्शनके सम्बन्धसे, दृष्टिके सम्बन्धसे उसमें जो द्रष्टापना आगया है, वह 'पश्' धातुका विवर्त है दृक्। जैसे मूल 'युष्मत्' शब्दका विवर्त आदेशात्मक 'त्वं' हो जाता है; ऐसे ही मूल धातु है सच्चिदानन्दघन, एकरस, अद्वय, निर्विशेष, निर्धर्मक; उसीका जब दृष्टि-सम्बन्धसे निरूपण करते हैं, तब उसका नाम हो जाता है दृक्। उस दृक्का जो विषय है, उसे

कहते हैं दृश्य। जिसे हम देखते हैं, उसका नाम है दृश्य और देखनेवालेको कहते हैं—द्रष्टा। देखनेवाला कौन है ? यह विचार करो।

इस पुस्तकमें आपका ही वर्णन है। किसी दूसरे ईश्वर या ज्ञानी गुरुका वर्णन नहीं है। अपने आपको ब्रह्म समझनेमें जो बाधा है, उसे दूर करनेकी पहली सीढ़ी है कि आप अपने आपको पहिले देहसे अलग करें।

आपको मृत्युका भय लगता है या नहीं ? जब अपने सम्बन्धी-पड़ोसीको मरते देखते हैं, तो अपने मरनेका भी भय लगता है। यदि इस भयसे आप बचना चाहते हैं तो विवेक करके इस देहसे पृथक् जो अपना आत्मा है, उसके स्वरूपको समझ लें।

आपको दुःख होता है या नहीं ? भय और दुःखसे बचनेका उपाय सरल है। चित्तमें वैराग्य हो, संसारमें किसीसे राग-द्वेष न हो तो आपको किसीके मरनेका, बिछुड़नेका कष्ट नहीं होगा। वैराग्यवान्को दुःख नहीं होता। जो अभ्यासी है, अपनी जगहपर बैठ जाता है, विषयों-इन्द्रियों तथा मनसे भी अन्तरंगमें जो सबका द्रष्टा है, सबका जो साक्षी है, सबसे जो अलग है, उस साक्षीभावमें स्थितको भी दुःख नहीं होता। लेकिन वेदान्तके अनुशीलनका फल केवल दुःख या भयकी निवृत्ति ही नहीं है।

मैं हरिद्वार गया था तो एक योगीजी मिले। बोले—'मैं जब सबसे अलग होकर बेठ जाता हूँ तो मेरे सब दुःख मिट जाते हैं।' अब वेदान्तकी आवश्यकता क्या ?

वस्तुतः तुम्हें मरनेका भय होता है, बिछुड़नेका दुःख होता है, अन्न-धन जानेका दुःख होता है, परन्तु जिस अज्ञानान्धकारमें तुम पड़े हो, उससे छुटकारेकी इच्छा नहीं होती।

क्या तुमको पता है कि यह सृष्टि जो दीख रही है वह क्या है? कहो—'मैं इससे अलग हूँ' लेकिन इस अलगसे मिले बिना कोई व्यवहार हो सकता है? बारम्बार वृत्तिसारूप्य करके ही व्यवहार करना पड़ता है। अतः जहाँतक आत्माको अद्वितीय रूपसे नहीं जानोगे, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

दुःखकी निवृत्ति आनन्द-बोधसे भी हो सकती है, शान्ति-बोधसे भी हो सकती है, असंग-बोधसे भी हो सकती है; किन्तु अज्ञानकी निवृत्ति जबतक कुछ भी अनजाना रहेगा, तबतक कैसे होगी?

जगत् क्या है? जीव क्या है? ईश्वर क्या है? ब्रह्म क्या है? इन सबके विषयमें प्रमाण द्वारा पदार्थ ज्ञान होना चाहिए, साधना द्वारा स्थिति नहीं। यह ज्ञान अज्ञानको निवृत्त कर सकता है। यह है अद्वितीयत्व—आत्मविज्ञान।

उपनिषत्का मूल तत्त्व इस बातमें है कि—'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है।

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

अतः उपनिषदोंका कहना है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

यह मन्त्र पंचदशीमें भी है। श्रीमद्भागवतमें निम्न पाठ-भेदसे है—

आत्मानं चेद् विजानीयात् परंज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोः देहं तृष्णाति लम्पटः॥

यदि मनुष्य अपने आपको जान ले—लेकिन जानना दूसरी वस्तु है और साधना दूसरी वस्तु है। आप एकान्तमें बैठ गये और अपने विषयमें कुछ सोचने लगे, 'मैं ऐसा हूँ' अथवा कुछ मत सोचो।

तो जो सोच रहे हो, वह अनजाने सोच रहे हो, जो नहीं सोच रहे हो वह भी अनजानमें ही है। 'मैं सोचनेवाला हूँ' और 'मैं नहीं सोचनेवाला हूँ' यह चित्तकी दोनों दशाएँ अज्ञानमें ही होती हैं। इन स्थितियोंको 'मैं-मेरी' मानना अविवेकको पराकाष्ठा है।

'सोचना भी मेरा, न सोचना भी मेरा' यह दोनों अज्ञान रूप ही हैं। अतः वेदान्तमें यह पहिला प्रश्न उठाया जाता है—'क्या आत्मा या ब्रह्म अथवा वस्तुतत्त्व साधन-साध्य हैं ?'

घड़ी उठा लेना साधन-साध्य है, इसे हाथ या चमटीसे उठा सकते हैं। जो वस्तु साधन-साध्य होती है, वह अनित्य होती है। साधनसे उत्पन्न की जाती है, फिर मिट जातो है। यह उत्पाद्य है। जो वस्तु अबतक है नहीं, उसको बनावेंगे—जैसे, आभूषण नहीं है, बनावेंगे तो एक दिन वह टूट जायगा।

प्रश्न उठा—'साधनसे जो बनाओगे, वह मिट जायगा तो ज्ञान से क्या होता है ?'

ज्ञानसे जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी जाना जाता है। ज्ञानसे अपने आपको अद्वितीय ब्रह्म जानना होता है। इसीके लिए कार्य-कारण प्रक्रियाका अध्यारोप करके फिर उसका अपवाद किया जाता है कि सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे हुई !'

दृश्य सर्वथा नहीं है, यह समझानेके लिए आत्माको द्रष्टा कहा जाता है। वह ज्ञेय नहीं है, इसके लिए उसे ज्ञाता कहा जाता है। ब्रह्मके अतिरिक्त कोई ज्ञेय नहीं है, इसलिए उसे ज्ञेय कहा जाता है। ये सब वर्णन प्रयोजन सापेक्ष्य हैं। आरोपके द्वारा इनका वर्णन होता है तथा 'नेति-नेति'के द्वारा इनका निषेध होता है। अध्यारोप-अपवादका अधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म है। इसमें सृष्टि, स्थिति, प्रलय—इनका होना-न-होना दोनों आरोपित हैं—मिथ्या हैं।

दृग्-दृश्य-विवेकका सार यह है कि संसारमें जहाँ-तहाँ तुम 'मैं-मेरा' करके अपनेको सुखी मानते हो, वह गलत है। जहाँ 'मैं-मेरा' इन दोनोंसे मुक्त होकर तुम सुख-स्वरूप हो, वहाँ तुम्हें बैठना चाहिए।

संसारके व्यवहारमें आप केवल चार प्रकारसे सुखी होते हैं। संसारके समस्त सुखोंको चार वर्गोंमें रखा जा सकता है—

१. भोगका सुख—जब आपको ऐन्द्रियक भोग मिलते हैं, तब सुख होता है।

२. मनोराज्यका सुख—भोग मिलनेका मनोराज्य होता है, तब सुख मिलता है।

३. अभिमानका सुख।

४. अभ्यासका सुख—जिस कामको करनेकी आदत पड़ गयी है, उसे करके सुख होता है।

भोगका सुख—भोजन, वस्त्र, स्त्री या पुरुष अर्थात् मनोनुकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मिले तब सुख होता है।

मनोराज्यका सुख—एक परिवारसे मेरा परिचय था। उस घरके लोग किसी दिन सुखी हो जाते थे, किसी दिन दुःखी। बात यह थी कि कहींसे उन्हें बहुत रुपया मिलनेवाला था। जब मुकदमेमें आशा बँध जाती तो वे लोग खूब खुश हो जाते। खाते-पीते, आनन्द मनाते। महीने-दो महीने बाद समाचार आता—'अभी पैसा नहीं मिलेगा, तो फिर दुःखी हो जाते। पैसा हाथमें आता नहीं; परन्तु आनेकी आशा होनेपर सुखी हो जाते और पैसा हाथसे जाता नहीं; किन्तु निराशा होनेसे दुःखी हो जाते—इसका नाम मनोराज्य है। मनुष्य अनेक बार मनोराज्य—कल्पना करके सुखी या दुःखी हो जाता है।

अभिमानका सुख—मेरे एक मित्रको लगता था कि उनके पास पन्द्रह-बीस करोड़ रुपया है। उस समय उनकी आँख सीधी नहीं होती थी। एक दिन पुलिसने वह छिपा धन पकड़ लिया। फिर तो वे बहुत 'दीन' हो गये। 'मैं बड़ा विद्वान्, बड़ा धनी, बड़ा तपस्वी, बड़ा त्यागी हूँ' ऐसा अभिमान करके व्यक्ति अपनेको सुखी मानता है। यद्यपि धनी भी पूरे मकानमें नहीं रहता। एक कमरेमें एक पलंगपर ही वह भी सोता है और पाव भर ही खाता है। थोड़ेसे कपड़े पहनता है।

वस्तुतः महिमा न जातिकी है, न वेशकी, न धनकी, न विद्या या पदकी। महिमा इस बातकी है कि व्यक्ति बैठा कहाँ है? परमात्मामें बैठा है या कूड़ाखानामें। अभिमान कूड़ेका टोकरा है। अभिमानमें बैठकर वह सुखी हो रहा है।

अभ्यासका सुख—जीवनमें जब कोई अभ्यास पड़ जाता है, तब उस अभ्यासमें-से कोई सुख नहीं निकलता, किन्तु वह काम न करें तो दुःख होता है। अतः उस कामको बार-बार दुहराते हैं।

मेरा यह पक्का निश्चय है कि जिन्होंने एक बार प्रैषोच्चारण करके संन्यास ले लिया है, उन्होंने तो प्रैषमन्त्रके उच्चारणमें इस लोक-परलोक सबका त्याग कर दिया है। तीन गुण, तीन अवस्था, त्रिपुटी, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर—इनके भीतरकी कोई वस्तु नहीं चाहिए, यह संकल्प प्रैष मन्त्रमें है। अतः जो यह त्याग कर चुका है—वह सकाम अनुष्ठानका अनधिकारी है। समझ लो कि वह त्याग-पत्र दे चुका है। कोई पुलिस कर्मचारी त्याग-पत्र दे दे—फिर दूसरेके घरमें तलाशी लेने जाय तो क्या वह तलाशी लेनेका अधिकारी है? इसी प्रकार जो संन्यासी प्रैषोच्चारण करके, त्रिपुटीका त्याग कर चुका है, उसे अनुष्ठान करके उसीमें-से कोई वस्तु प्राप्त करनेका अधिकार नहीं है। अधिकारी न होनेसे

ही संन्यासी लोग जो अनुष्ठान करते हैं, उन्हें सफलता नहीं मिलती क्योंकि अनाधिकारीको फलकी प्राप्ति नहीं होती।

काशीमें एक संन्यासी दुर्गापाठ करते समय हिलते थे। श्रीस्वामी योगानन्दजी महाराज (जो परमहंस श्रीरामकृष्णजीके शिष्य स्वामी नित्यानन्दजीके शिष्य थे)ने मना कर दिया—'शास्त्रमें सिर या शरीर हिलाते हुए पाठ करना निषिद्ध है।'

वे साधु बोले—'जब मैं हिलता नहीं हूँ तो मुझे पाठ करनेमें आनन्द नहीं आता है।'

शराब पीनेका सुख भी ऐसा ही अभ्यास-जन्य सुख है। शराबमें-से सुख नहीं निकलता। जो प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार करते हैं, वे एक दिन न करें तो उनको बड़ा कष्ट होता है।

भोगका सुख, मनोराज्यका सुख, अभिमानका सुख और अभ्यासका सुख—इनमें एक बड़ी भूल है। सुख न विषय-भोगमें है, न मनोराज्यमें, न अभिमानमें, न अभ्यासमें। सुखरूप हम स्वयं हैं। हम जिस वस्तुपर आरूढ़ हो जाते हैं, उसमें सुख मालूम पड़ने लगता है। हम जिसको 'मेरा' समझते हैं, उसमें सुख मालूम पड़ता है।

सुख है तो आत्माका; किन्तु हम दूसरेके साथ अपनेको जोड़कर उसमें सुख समझते हैं। सुखका उपादान अपना आपा ही है, अन्य कोई नहीं है।

समझदारीसे दृश्यका अपवाद करके दृश्यसे विलक्षण द्रष्टा है और वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें द्रष्टा है। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालोंमें द्रष्टा है। वह बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, आगे-पीछे सब स्थानोंमें द्रष्टा है। वह तुम्हारे अभिमानका भी द्रष्टा है। यह विवेक है। यह द्रष्टापन अभिमानकी

निवृत्तिके लिए है। विषय-भोगमें भी अभिमान है, मनोराज्यमें भी और अभ्यासमें भी अभिमान है। अतः अभिमान-जन्य सुखसे असंग करनेके लिए वेदान्तने द्रष्टापनेका विवेक किया है।

सांख्यके द्रष्टा, योगके द्रष्टा और वेदान्तके द्रष्टा-निरूपणमें अन्तर है। पहिले यह विवेक करो कि आपका प्रियतम क्या है? द्रष्टाका विवेक करनेके लिए यह आवश्यक है। तुम देखोगे कि धन, पत्नी, पुत्र, माता-पिता तथा शरीरसे भी अधिक तथा मनसे भी अधिक प्रेम अपने-आपसे है। मनुष्य कभी-कभी मनकी शान्ति भी छोड़ देता है। निद्रा छोड़ देता है। समाधि एवं ईश्वर-पूजाको भी किसी दिन छोड़ देता है। तथ्य यह है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

इस तथ्यको न बदला जा सकता है, न इसे झुठलाया जा सकता है। इसमें केवल यही हो सकता है कि सब कुछ अपना आपा हो जाय, तभी हम व्यक्तिगत स्वार्थ एवं व्यक्तिगत सुखकी वासनासे बच सकते हैं, अन्यथा हम व्यक्तिगत स्वार्थ एवं व्यक्तिगत सुखकी वासनासे नहीं बच सकते। यह अपना आपा सबसे प्यारा है, यह बात जब ठीक समझमें आती है, तब दूसरोंसे हमारी आसक्ति अपने आप छूट जाती है। तब जिज्ञासा होती है कि दूसरी वस्तुएँ क्या हैं?

तुम्हारे बिना दूसरी वस्तु मालूम नहीं पड़ सकती। दृश्य तभी है, जब द्रष्टा है। संसार है, ईश्वर है, दूसरे जीव हैं, यह आपको मालूम पड़ता है। आपका ज्ञान हो तो सब मालूम पड़ें। आपका ज्ञान न हो तो कुछ मालूम न पड़े। आप हों तो सबसे प्यार कर सकते हैं; पर आप ही न हों तो प्यार कैसा? अतः प्यारका अधिष्ठान आत्मा है। ज्ञानका अधिष्ठान आत्मा है। संसारका सब प्यार अपने लिए है और संसारकी सारी जानकारी अपनेमें है।

विवेक करनेमें भी एक क्रम है। पहिले होगा प्रिय-अप्रियका

विवेक। आत्माके अतिरिक्त और कोई प्रिय नहीं है, यह बात स्थिर होनेपर दूसरे सबसे वैराग्य हो जायगा।

फिर 'द्रष्टा-दृश्य विवेक' होगा। आत्माके अतिरिक्त कोई चेतन नहीं है। सब दृश्योंका, सब जड़ोंका ज्ञाता आत्मा है। सब सापेक्ष हैं अर्थात् मैं होऊँ तभी सब हो सकता है। मेरे हुए बिना किसीका ज्ञान नहीं हो सकता।

तीसरा विवेक होगा—सत्य क्या और असत्य क्या? एक 'यह' है, एक 'मैं' है। एक अन्य है, एक स्व है। इन दोनोंमें सच्चा कौन है? इस सदसद्-विवेकमें देखोगे कि जो सापेक्ष है, अन्य है, वह आता-जाता है, बदलता है; परन्तु तुम बदलते नहीं हो।

साधो तुम मरते नहीं, पलटू करो विचार।
पलटू करो विचार तुम्हहिं कर्ता के कर्ता॥

तब तुम अद्वय हो जाओगे। इसमें दुःख पूरा मिट जायगा। अज्ञान पूरा मिट जायगा। असत् पूरा मिट जायगा और सत्, चित्, आनन्द, अद्वय तत्त्व रह जायगा।

आप अपना एक नाम मानते हैं। जिस नामसे लोग आपको जानते हैं, जिस नामकी निन्दा-प्रशंसा करनेपर आप अपनी निन्दा-प्रशंसा मानते हैं, यह नाम क्या आप पूर्वजन्मसे अपने साथ लाये हैं? जन्म लेनेपर भी आपका यह नाम नहीं था। पीछे नाम रखा गया। अब यदि आप आश्रम बदल दें तो आपका नाम बदल जायगा। यह क्या हुआ? पहले अध्यारोपित नामका अपवाद हो गया और दूसरे नामका अध्यारोप हो गया। यही आपका नाम नहीं है, यह भी आरोपित नाम है।

अब आपसे पूछते हैं कि आपने अपनेको जीव कैसे समझा? जीवका अर्थ है, पूर्वजन्ममें था और इस शरीरमें आया है। यह

शरीर नहीं रहेगा तो दूसरे शरीरमें जायगा। उसका पाप-पुण्य उसके साथ लगा रहता है। उसकी वासनाएँ उसके साथ लगी रहती हैं। उसका अहंकार उसके साथ लगा रहता है। अविद्या-ग्रन्थिके अन्तर्गत काम-क्रोध-लोभ उससे जुड़े रहते हैं। ऐसा जीव आपने अपनेको किस अनुभवके आधारपर माना है? आपमें जीव-पना अध्यारोपित है या वास्तविक है? इस हड्डी-मांस-चर्मका बना पाँच-भौतिक देहमें मैं-पना आरोपित है। इस देहमें मैंपनेके कारण ही आपने अपनेको जीव मान लिया है।

हड्डी-मांस-चर्ममें एक आकार-विशेष होनेसे आपने अपनेको मनुष्य माना, पर हड्डी-मांस-चर्ममें मनुष्यत्व नहीं होता। उसमें पशुत्व, पक्षित्व भी होता है। फिर अपनेको किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णका माना। फिर पापी-पुण्यात्माका अपनेमें आरोप किया। द्रव्यका सम्बन्ध होनेसे, पञ्चभूतात्मक देहमें 'मैं-मेरा' होनेसे आपमें जाति-वर्ण आरोपित हुआ। स्वयं देह माननेके कारण आप भोग और कर्मके बिना तो रह नहीं सकते तो उच्छृङ्खल न हो जायँ, इसके लिए आपकी एक जाति, एक वर्ण, एक आश्रम बनाया गया कि आपके कर्म गलत रास्तेपर न जायँ। जब आपने मनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा तो वासनाओंके साथ सम्बन्ध जुड़ गया। तब आपको उपासक बनाया गया और भगवान्‌को शास्त्रने उपास्य बतलाया, जिससे आप अपनी सारी वासनाएँ भगवान्‌के साथ जोड़ें। आपने बुद्धिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अपनेको विचार वान्—प्रमाता मान लिया। शान्तिके साथ सम्बन्ध जोड़कर आपने अपनेको शान्त मान लिया।

संसारमें जहाँ कहीं आपने अपनेको जोड़ा—देह मानकर जोड़ा। मनके साथ अपनेको जोड़कर वासनाओंमें उलझ गये। बुद्धिके साथ अपनेको जोड़कर न्यायान्याय धर्माधर्मसे जुड़ गये।

शान्तिके साथ अपनेको जोड़कर अशान्ति, चञ्चलता देने लगी। लेकिन आपका स्वरूप केवल दृङ्मात्र—ज्ञानमात्र है।

द्रष्टा भूल-भुलैयामें फँस गया है और समझता है कि सभी उसे फँसा रहे हैं। मनुष्यको सुख चाहिए, यह निरपवाद बात है। इसमें कोई मतभेद नहीं। सुख कितनी देरको चाहिए? कहाँ-कहाँ सुख चाहिए? सदा सुख चाहिए। सर्वत्र सुख चाहिए। किस-किससे सुख चाहिए? सबसे सुख चाहिए। श्रम करके सुख मिले तो अच्छा या बिना श्रमके? तो बिना श्रमके ही मिले। ऐसा सुख चाहिए जो ज्ञात होता रहे। अर्थात् वह सुख सदा अपरोक्ष चाहिए। सदा आत्मासे सन्निकट चाहिए। इस सबको एकमें मिला दो तो उसका नाम होगा ईश्वर।

सदा चाहिए अर्थात् नित्य। सर्वत्र चाहिए अर्थात् पूर्ण। सबसे चाहिए अर्थात् सर्वात्मक। अनायास चाहिए अर्थात् स्वयं सिद्ध। ज्ञात हो अर्थात् अपरोक्ष। नित्य, पूर्ण, सर्वात्मक, स्वतः सिद्ध, अपरोक्ष आनन्दका नाम हो तो ईश्वर है। आप ईश्वरको चाहते हो, परन्तु समझते नहीं हो।

लोग कहते हैं—'हम विवाह करके, पुत्र पाकर, धन पाकर सुखी होना चाहते हैं।' लेकिन स्त्री, पुत्र, धन, पदसे जो सुख मिलेगा, उससे तुम सदा, सर्वत्र, बिना श्रम, सुखी रह सकोगे? तुम चाहते तो हो ईश्वरको और उसे छोटी-छोटी जगहोंमें ढूँढ़ते हो, इसीका नाम अज्ञान है। तुम चाहते दूध हो और ग्लास डुबाते हो समुद्रमें, जहाँ खारा पानी मिलता है। तुम चाहते हो ईश्वर और ढूँढ़ते हो नाशवान् वस्तुओंमें।

आपन दारुण दीनता, सबहि कहउँ समुझाय।
देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय की जरनि न जाय॥

हम या शास्त्र नहीं कहते कि—'तुम ईश्वरको चाहो।' इच्छा स्वयं उत्पन्न होती है, आज्ञा देकर उत्पन्न नहीं की जा सकती। इच्छा विधेय नहीं है; किन्तु तुम अपनी वास्तविक इच्छको समझ नहीं रहे हो। ईश्वरसे मिले बिना तुम्हारी अशान्ति, तुम्हारा दुःख मिट नहीं सकता। ये मकान-दूकान, मोटर-कपड़े, रुपया-कुर्सी, स्त्री-पुत्र, सामग्री तुम्हारे हृदयके जलनको नहीं मिटा सकते।

जो सब जगह है, सब समय है, सबमें है, वह इस जगह, यहाँ, इसी समय और तुममें है या नहीं? वह तुममें न मिले तो अन्यत्र जाओ। गाँवोंमें अग्नि माँगने दूसरोंके घर जाते हैं, परन्तु तब जाते हैं, जब अपने घरमें अग्नि या माचिस नहीं होती। पहले जाँच कर लो कि घरमें अग्नि या माचिस है या नहीं? वस्तुतः तुम जिस वस्तुको चाह रहे हो, वह तुम्हींमें है—तुम्हीं हो। अपनेको न पहचानकर उसे पाने अन्यत्र जा रहे हो। भगवान् शेषने कहा—

आत्मा दुरापो निखिलेऽपि देहे
.... रमते मृषैव।

अपने आत्माके समुद्रमें सब लोग डूब-उतरा रहे हैं, परन्तु न उसमें डुबकी लगाते हैं, न उससे पीछे हटते हैं। आश्चर्य है कि यह जो संसारका समुद्र उमड़ रहा है, यह सर्वथा मृग-तृष्णाका समुद्र है, किन्तु मनुष्य इसमें रम गया है।

अतः द्रष्टाका अनुसन्धान करो कि देखनेवाला कौन है? यदि तुम देखे जानेवालेमें आसक्ति करोगे तो दुःखी हो जाओगे।

आप सिनेमा देखते हैं तो एक ओरसे प्रकाश आता है और पर्दे पर पड़ता है। एक है पर्दा, एक है प्रकाश। इनके मध्यमें संस्कारवाला फिल्म हो तब चित्र दीखते हैं। संसारका जो चित्र

दीख रहा है, इसका एक पर्दा है, एक प्रकाश है। प्रकाश द्रष्टाकी ओर लगता है, पर्दा दीखनेवाली वस्तुओंके पीछे लगता है। परन्तु जो वस्तु देश, काल या वस्तुसे कटती है, वह दो होती है। न द्रष्टा देश, काल, वस्तुमें कटता है, न पर्दा—अधिष्ठान देश, काल, वस्तुमें कटता है। पर्दा एक ही रहता है। प्रकाश भी एक ही रहता है। दृश्य ही बदलते रहते हैं। जिस सत्तामें यह सृष्टि दीख रही है और जो चेतन इसको प्रकाशित करता है, वह चैतन्य और वह सत्ता—दोनों देश, काल, वस्तुसे परे हैं। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न लक्षण दोनोंका एक होनेके कारण—'लक्षणैके लक्ष्यैकां' दोनों एक हैं। अर्थात् तुम्हारे हृदयमें आत्मा और परमात्मा कहनेके लिए दोनों दो बने बैठे हैं; वस्तुतः दोनों एक हैं।

जबतक तुम देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणसे अपनेको एक करके रखोगे, तबतक तुम परमात्माकी गोदमें रहोगे। जब अपनेको देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणके परिच्छेदसे पृथक् करके समष्टिसे एक कर दोगे, तब ईश्वरसे तुम्हारा सायुज्य हो जायगा। ईश्वरमें मिल जाओगे। जब अपनेको द्रष्टा जानकर—अन्तःकरण और अन्तःकरणके अभाव—दोनोंसे; 'सृष्टि और सृष्टिके अभाव'से पृथक् कर लोगे—तब भेद बाधित हो जायगा और तब एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा तुम हो। तब तुम्हारी गोदमें ईश्वर तथा प्रकृति दोनों बैठेंगे।

जबतक तुम देहके साथ मिले रहोगे, तबतक तुम ईश्वरकी गोदमें रहोगे। जब देहसे न मिलकर प्रकृतिसे मिल जाओगे, तब तुम ईश्वरसे एक हो जाओगे। जब 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वम्' पदार्थ दोनोंका पार्थक्य समझकर दोनोंकी एकताको जान लोगे अर्थात् द्रष्टाको जब सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-शून्य, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वितीय जान लोगे, तब ईश्वर, जगत्, जीव

सब तुम्हारी गोदमें खेलने लगेंगे। प्रतीति होकर तुमको रिझावेंगे और तुम उनको देख-देखकर परमानन्दका अनुभव करोगे। अतः द्रष्टा-दृश्यका विवेक ही अपनेको प्रमातासे पृथक् करनेवाला है।

ज्ञानेन्द्रिय एवं अन्तःकरणकी उपाधिसे जबतक आत्माका सम्बन्ध रहता है, तबतक इसे प्रमाण-वृत्तिसे युक्त होनेके कारण प्रमाता कहते हैं और स्थूल जगत् प्रमेय होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रमेय होते हैं। अन्तःकरण—इन्द्रियाँ प्रमाण होती हैं। अपना आपा इनसे मिलकर प्रमाता होता है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि—'अपनेको सात चीजोंसे अलग कर लो। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, सुख दुःख। इन सात वस्तुओंवाले तुम नहीं हो।'

एक बार किसीने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा—'ज्ञानी तो सदा हँसता रहता है।'

वे बोले—'हँसना तो देहका धर्म है। ऐसे ही रोना भी देहका धर्म है।'

देहेन्द्रिय, अन्तःकरणसे युक्त प्रमाता औपाधिक है अर्थात् चश्मेका रंग सच्चा मानकर व्यवहार करनेवाला है।

'पापी सर्वत्र पापमाशंकते।'

जिसके मनमें पाप भरा होता है, उसे सर्वत्र पाप ही भरा दीखता है। जिसके मनमें सद्भाव भरा होता है, उसे सर्वत्र सद्भाव ही भरा दीखता है।

जो प्रमाणगत संस्कारको प्रमेयमें आरोपित करके प्रमेयको ही अच्छा या बुरा समझता है, उसे प्रमाता कहते हैं।

हमारे अन्तःकरणमें जो संसारके रंग चढ़े हैं, उन रंगोंको हम यह तो समझ नहीं पाते कि वे हमारे अन्तःकरणमें हैं; समझते यह हैं कि वे जिसमें हम देख रहे हैं, उसमें हैं। आप जब दूसरेको चोर समझते हैं, तब अपने अन्तःकरणमें छिपी चोरीकी वासनाको प्रकट करते हैं। आप अपने हर कामसे अपनेको ही प्रकट करते हैं। अतः प्रमाण-वृत्तिसे अपहित अन्तःकरणको 'मैं-मेरा' समझने-वाला जो कर्ता-भोक्ता-प्रमाता है, उसमें-से अपनेको निकाल लें। अन्तःकरणके प्रभाव, दबाव, संस्कार, रंगसे मुक्त होनेका उपाय है—अपनेको अन्तःकरणका द्रष्टा समझ लेना।

दृग्-दृश्य-विवेक 'त्वं'-पदार्थ-प्रधान ब्रह्म साक्षात्कारका उपाय है। यह आत्मा आभास बनकर अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर संसारको प्रकाशित करता है।

जैसे थालीमें पानी है। उसमें सूर्यका आभास पड़ रहा है। उस आभाससे दीवारपर प्रकाश पड़ रहा है। उस प्रकाशमें दीवारका रंग दीख रहा है। सूर्य आकाशमें है, आभास थालीमें है, उस आभासका आभास दीवारपर पड़ता है। परिपूर्ण परमात्मा सूर्यके समान है, सर्वव्यापी है। हमारे अन्तःकरणकी थालीमें वासनाओं-वृत्तियोंका जल भरा है। उसमें वह आभासित हो रहा है। इन वृत्तियोंके द्वारा जो प्रकाश बाहर आता है, उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रकाशित होते हैं।

तुम कौन हो? जो शब्द, स्पर्शादि मालूम पड़ते हैं, क्या वह हो? जिन छिद्रोंसे ये शब्द-स्पर्शादि प्रवेश करते हैं, क्या वह कान-आँख, त्वचादि हो? या हृदयकी थालीमें जो जल भरा है, वह हो? अथवा उसमें जो आभास है, वह हो?

नहीं—तुम्हारे पीछे कोई नहीं हो सकता। तुम सबके पीछे हो। तुम सूर्य हो। तुम आत्मदेव हो जो आभासके पीछे हैं।

द्रष्टा और प्रमाताको आप समझ लें। जैसे हाथसे काम करनेमें आप कर्ता हैं, वैसे ही हाथको रोककर बैठनेमें भी आप कर्ता ही हैं। ऐसे ही इन्द्रियोंको खोलकर देख रहे हैं तो आप ज्ञाता हैं, और इन्द्रियोंके छिद्रोंको बन्द कर लिया तो आप बन्द छिद्रोंवाली इन्द्रियोंके ज्ञाता हैं।

आपने सुखका भोग लेना बन्द कर दिया तो अभोक्ता नहीं हुए, बन्द भोगके भोक्ता हो गये। एक दिन अधिक खा लिया, शरीर भारी हो गया। खानेका सुख लिया, भारी पेटका दुःख लिया। दूसरे दिन उपवास किया तो यह न खानेका सुख भी तो वही ले रहा है, जिसने खानेका सुख लिया था। यहाँ भी भोक्ता-पना है। 'आज मैं बिना खाये रहा।' इस अभिमानका सुख भी तो तुम्हीं ले रहे हो!

जहाँतक हम वृत्तियोंका व्यापार चालू या बन्द रखकर अपनेको द्रष्टा मानते हैं, वहाँतक तो द्रष्टा नहीं है। वहाँतक प्रमाता ही है।

एक द्रष्टापनका भाव होता है और एक द्रष्टापनका अभिमान होता है। एक होता है सचमुच अपने स्वरूपमें द्रष्टाका अवस्थान। इनको देख-समझ लें—

द्रष्टापनेका भाव—जिस समय हम वृत्तियोंसे काम लेते हैं कि—'हम द्रष्टा हैं' इस वृत्तिको बार-बार दुहराना—'मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ' यह दुहरानेका कर्तव्य आगया। यहाँ तो द्रष्टाका द्रष्टत्व ही समाप्त हो गया। यह भाव न योगमें है, न सांख्यमें है। उपासक जैसे 'राम, राम, राम'की आवृत्ति करते हैं वैसे ही यह भी एक प्रकारकी उपासना है—'मैं द्रष्टा हूँ'की आवृत्ति। क्या यह 'सोऽहं सोऽहं'के अहंग्रहोपासनाके समान है? नहीं—वैसी नहीं है। 'सोऽहं'में परोक्ष रूपसे जो 'तत्' पदार्थ है, देश, काल, वस्तुसे

अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य सच्चिदानन्द अद्वय, वह 'तत्' पदार्थ 'मैं' हूँ, यह आवृत्ति है। बार-बार 'तत्' पदार्थपर दृष्टि जानेके कारण इसमें अज्ञात-ज्ञापक प्रमाणका उदय सम्भव है; लेकिन 'मैं द्रष्टा हूँ'की आवृत्तिमें प्रमाण वृत्तिका सम्बन्ध तो टूटेगा, परन्तु अपनी अपरिच्छिन्नताके ज्ञानकी शक्तिका उदय नहीं होगा।

हम दुहराते नहीं, जानते हैं कि हम द्रष्टा हैं। जब हम द्रष्टाका भाव रखें, तब द्रष्टा रहें और भाव न रखें तब भी द्रष्टा रहें, जैसे, हमें याद रहता है कि 'हम ब्राह्मण हैं' तब भी हम ब्राह्मण रहते हैं और याद नहीं रहता, तब भी ब्राह्मण रहते हैं। ब्राह्मणत्वकी याद भूल जानेसे हम अब्राह्मण नहीं हो जाते। अध्यारोपका भाव जब प्रबल हो जाता है, तब विस्मृतिसे उसकी कोई हानि नहीं होती। मनुष्यमें ब्राह्मणत्व आरोपित है। ऐसे द्रष्टापनेका जब अपनेमें आरोप होता है तो समाधिकालमें हम निरोधके द्रष्टा हैं और व्यवहार कालमें हम व्यवहारके द्रष्टा हैं।

यह द्रष्टा अन्तःकरणका द्रष्टा है। अन्तःकरणके निरोधका द्रष्टा है। सम्पूर्ण विश्वके अन्तःकरणोंका तथा सम्पूर्ण अन्तःकरणोंके बीजका द्रष्टा है। द्रष्टाकी दृष्टिमें ही एक अन्तःकरण है। द्रष्टाकी दृष्टिमें ही एक अन्तःकरणकी जाग्रत्, स्वप्न-सुषुप्ति एवं समाधि है। द्रष्टाकी दृष्टिमें ही कोटि-कोटि अन्तःकरण हैं। द्रष्टाकी दृष्टिमें ही कोटि-कोटि अन्तःकरणके बीज हैं। द्रष्टाका अधिकरण अन्तःकरण नहीं है। अन्तःकरणका अधिकरण द्रष्टाकी दृष्टि है। यहाँ आप सांख्य और योगमें वर्णित द्रष्टाकी छाया छूने लगे हैं।

अन्तःकरणमें जो शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान, सुखज्ञान, दुःखज्ञान, शत्रुज्ञान, मित्रज्ञानरूप वृत्तियोंकी प्रवृत्ति है, वह अनेक वृत्तियोंके रूपमें बदलता अन्तःकरण ही है।

आप इसके तटस्थ-कूटस्थ द्रष्टा हैं। तटस्थ होनेका अर्थ है—किनारे बैठ जाना। जैसे गंगाजी बह रही हैं, हम तटपर खड़े हैं। धारामें पुष्प बह गये और मुर्दा बह गया। गन्दगी बहती निकल गयी। हम किनारे पर हैं; अतः न मुर्देने हमको छुआ, न गन्दगीने और न पुष्पने। ऐसे ही यह प्रकृतिकी गंगा बह रही है।

गं गगनं अतिव्याप्य गच्छति गंगा।

आकाशव्यापिनी गतिशीला—कारण-प्रकृतिकी धारा आकाशमें बहती रहती है। उसमें शब्दकी धारा बह गयी, स्पर्शकी धारा बह गयी, रूपकी धारा बह गयी, रसकी धारा बह गयी, गन्धकी धारा बह गयी, इन्द्रिय-वृत्तियोंकी धारा बह गयी, अन्तःकरणकी धारा बह गयी, परन्तु हम तटस्थ हैं। हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। धारा बह रही है; परन्तु हम सम्बन्ध-शून्य हैं। द्रष्टापनेके इस भावमें वस्तुकी निवृत्ति नहीं होती। वस्तुके साथ सम्बन्ध-पनेकी निवृत्ति होती है।

गंगाकी धाराके मध्यमें कूटस्थ एक चट्टान है। गंगाकी बाढ़ उसपरसे निकल जाती है। गंगा स्वच्छ होती है—मटमैली होती है। बाढ़में कूटस्थ डूब जाता है। जल घटता है तो वह शिला दीखती है। गंगाका मटमैला होना तमोगुण है। वेगसे बहना रजोगुण है। स्वच्छ-शान्त बहना सतोगुण है। प्रकृतिकी धारामें ये तीनों गुण बहते रहते हैं; परन्तु उस कूटस्थ—उस शिलापर इनमें-से किसीका प्रभाव नहीं है। वह ज्यों-का-त्यों अकम्प स्थित है।

गंगासे अलग होकर तटस्थ होना, यह योगका द्रष्टा है। गंगाजीमें रहकर कूटस्थ होना, यह सांख्यका द्रष्टा है।

योगके अनुसार यावत्काल निरोध होगा, तावत् काल तुम शुद्ध

द्रष्टा रहोगे। जब वृत्तियाँ उठेंगी, तब उनके साथ तुम्हारा सारूप्य हो जायगा। इसका फल होगा कि विवेकख्याति हो जायेगी।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। —योगदर्शन

इस अभ्यास-वैराग्यजन्य निरोधावस्थाका द्रष्टा होनेसे तुम यह समझ जाओगे कि वृत्ति-निरोध और विरोध दोनों ही अवस्थाओंमें—वृत्तिके निरोध, अनुरोध, विरोध, अवरोधमें सब समय तुम द्रष्टा हो। तुम अन्तःकरणसे तटस्थ रहकर द्रष्टा हो, यह ज्ञान हो जायगा और इस ज्ञानसे वृत्तियाँ धीरे-धीरे शिथिल हो जाती हैं तथा योगके प्रभावसे अभिभूत होकर सर्वथा शान्त हो जाती हैं।

सांख्यदर्शनमें जो द्रष्टाका वर्णन है, उसमें व्यक्तियोंके अभिभवकी आवश्यकता नहीं है। एक अन्तःकरणकी वृत्तियोंका योगमें निरोध किया जाता है। एक शरीरको आसनसे बैठाया जाता है। एक शरीरमें चलनेवाली श्वासको रोकते हैं। 'ये मेरे प्राण हैं। इनका कुम्भक हो। यह निरोधावस्था मेरे अन्तःकरण की है।' इस प्रकार 'अन्तःकरण मेरा है। अभ्यास-वैराग्यसे मैंने इसमें निरोधावस्था उत्पन्न की है।' अन्तःकरणसे मेरेपनेका सम्बन्ध योगमें नहीं रहता। 'अन्तःकरण मैं हूँ' मात्र यह सम्बन्ध कट जायगा।

सांख्य दर्शनने कहा—'संसारमें चाहे जितने विषय, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ प्रतीत हों, अन्तःकरण चाहे जैसा प्रतीत हो, निरुद्ध हो या अनिरुद्ध हो, यह अन्तःकरण न 'मैं' न 'मेरा'। वृत्तियाँ कभी उदय होती हैं—कभी शान्त, कभी उनमें समाधि होती है, कभी वृत्तियोंका मिश्रण होता है, कभी वृत्तियोंका प्रलय होता है। इन पाँचों आकारोंमें वृत्तियोंके रहनेपर भी द्रष्टा वह है जो किसी वृत्तिको 'मैं—मेरी' नहीं समझता। उसने वृत्ति और अन्तःकरणसे अपना विवेक पार्थक्य बोध कर लिया है।

जब अपनेको द्रष्टा मानकर अपने स्वरूपमें बैठ गये तो जिस वस्तुको छोड़कर तुम अलग हुए हो, उसके विषयमें क्या विचार है ? इसका यह प्रभाव पड़ेगा कि यदि वह तुमसे पृथक् हो तो तुमको द्वैतका ज्ञान हुआ है। अनेकत्वकी भ्रान्ति हुई है। क्योंकि प्रत्येक अन्तःकरणका अलग-अलग द्रष्टा है। अतः जिस दृश्यको छोड़ दिया है, उसका भी पारावार ज्ञात होना चाहिए। अन्यथा ज्ञान अपूर्ण रहेगा। तुमको द्रष्टाका ज्ञान हो गया, परन्तु दृश्यका ज्ञान नहीं हुआ। संसारके सब दर्शन केवल दुःखकी निवृत्तिके लिए हैं। न्याय अपवर्जनार्थक है, सांख्य दुःख निवृत्यर्थ है। मीमांसा सम्बन्ध-लयार्थ है। बौद्धदर्शन दुःख-निवृत्यर्थ है, सुख प्राप्त्यर्थ तो एक चार्वाकदर्शन, इसमें विषय-भोगजन्य सुखाकार-वृत्ति है। दूसरा भक्तिदर्शन, इसमें भगवदाकारजन्य सुख होता है। तीसरा वेदान्तदर्शन, आत्मा और ब्रह्मका अभेद ज्ञान प्राप्त करनेके लिए है। यह अनर्थ-निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी अवाप्ति-रूप मोक्षके लिए है।

परम स्वातन्त्र्यरूप मुक्ति सांख्य और योगदर्शनके द्रष्टाको नहीं मिल सकती; क्योंकि उसका शत्रु दृश्य—सामने रहेगा ही। दृश्यसे एकता होनेका भय उसे सदा है; किन्तु—

अभयं ह वै ब्रह्म। ब्रह्म तो अभय पद है।

द्वितीयाद् वै भयं भवति। जहाँ द्वैत है, वहाँ भय होगा।

सांख्य और योगदर्शनके द्रष्टामें दुःख-निवृत्ति तो है; किन्तु परम स्वतन्त्रतारूप, परम निर्भयतारूप, अद्वितीयतारूप, ब्रह्मात्मैक्यरूप मुक्ति उसमें नहीं है। यहाँ प्रयोजनमें ही भेद है कि एक केवल दुःख-निवृत्तिके लिए प्रयत्न करता है और दूसरा अनर्थ-निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है।

सांख्य और योगदर्शनके द्रष्टामें अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ;

क्योंकि जो दृश्य दीख रहा है, वह क्या है, यह उसे ठीक ज्ञात नहीं। दृश्य कब उत्पन्न हुआ, किसमें भास रहा है, यह ज्ञान नहीं हुआ।

योग और सांख्यके द्रष्टाको आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। उनको अद्वितीय चिद्भावकी प्राप्ति भी नहीं हुई; क्योंकि दृश्यरूपसे जड़ उनकी बुद्धिके सामने बना है। जिसको आनन्दकी प्राप्ति नहीं हुई, उसके साथ कहीं-न-कहीं दुःख लगा है। जिसके द्वैत भावकी निवृत्ति नहीं हुई उसको अज्ञान लगा हुआ है।

द्रष्टा-दृश्यमें-से सदसद् विवेक करके देखो कि कौन-सा सत् है, कौन-सा असत् है। यह विवेक भी सांख्य और योगके द्रष्टाको नहीं हुआ; क्योंकि अन्तिम सत्य केवल आत्मा ही होता है। आत्मा अनादि है, अनन्त है; क्योंकि आत्माका आदि-अन्त देखेगा कौन? इसमें जो 'अस्ति' वृत्तियाँ हैं— 'घटः अस्ति, पटः अस्ति' आदि ये सद्रूप आत्मामें उदय होती हैं और मिट जाती हैं। अतः परम सत्य आत्मा है।

वेदान्तमें परम सत्य अपना आत्मा द्रष्टा है। दूसरी सब वस्तुएँ असत्य हैं। यदि तुम द्वैतको भंग नहीं करोगे, दूसरेको असत्य नहीं समझोगे तो 'दो' ही बने रहोगे—ब्रह्म नहीं। यदि तुम दूसरेसे ज्ञेयत्वको मिटाओगे नहीं तो तुम ज्ञाता हो बने रहोगे—द्रष्टा नहीं। मिथ्या दृश्यका द्रष्टा होता है और सत्य दृश्यका ज्ञाता होता है। तुम प्रमाता बने रहोगे। तुम्हारे दुःख तो सब मिट जायेंगे; किन्तु परमानन्द-स्वरूप अभयपद ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होगा।

इस विश्लेषणका अभिप्राय है—आत्मा आनन्दरूप परम-प्रेमास्पद है और जो दृश्य है, वह अनात्मरूप और दुःखरूप है। अतः उससे वैराग्य होना चाहिए। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और

अनात्मा ज्ञेय, जड़ है, अतः आत्माको असंग द्रष्टा होना चाहिए। यह चिदचिद्-विवेक है।

जो जड़ है, वह असत् है और आत्मा सद्रूप है, अतः यह आत्मा ही सत्य है। इसके अतिरिक्त अन्य सब मिथ्या है। इस सदसद्-विवेकसे आत्मा अद्वितीय हो जायगा। इस आत्माकी अद्वितीयताको ही ब्रह्म कहते हैं। यही समझानेको सम्पूर्ण वेदान्तकी प्रवृत्ति हुई है।

आप द्रष्टा हैं या आपको द्रष्टा होना है?

द्रष्टा एक है या अनेक?

आप जब व्यवहार करते हैं तो अन्तःकरण, इन्द्रिय, देहसे एक हो जाते हैं या नहीं?

द्रष्टा, दृश्य एक हैं या दो?

द्रष्टा-दृश्य यदि पृथक्-पृथक् हैं तो दोनोंके मध्य सन्धि क्या है? क्योंकि दो वस्तुओंकी सत्ता तब होती है, जब दोनोंके मध्य विभाजक रेखा हो। द्रष्टा-द्रष्टा दो हैं तो उनमें विभाजक रेखा क्या है? क्या ऐसा हो सकता है कि कोई अज्ञात सत्ता द्रष्टाके पीछे बैठकर उसे प्रकाश दे रही हो?

इन प्रश्नोंपर आप गम्भीरता पूर्वक विचार करो।

जो समझता है कि मेरी समाधि लगती है, वह द्रष्टा है या नहीं? नहीं है; क्योंकि समाधि और विक्षेप अन्तःकरणमें होते हैं। अन्तःकरणकी समाधिको अपनेमें आरोपित करके वह अपनी समाधि मानता है।

समाधिकालमें अन्य रूपसे ईश्वर, दूसरा द्रष्टा और संसार भी नहीं भासता। यह संसार, दूसरे द्रष्टा और ईश्वर-स्वरूप रूपसे भी उस समय नहीं भासते और व्यवहार-कालमें अन्तःकरणकी

वृत्तियोंसे ही तो व्यवहार करोगे। जहाँ एक अन्तःकरणसे व्यवहार किया, वहाँ अन्तःकरणवाले प्रमाता बन गये। तब अन्तःकरणके कर्म, वासना, वृत्तियाँ तुम्हारी हो गयीं। समाधि-कालमें तुम साधनके द्वारा द्रष्टा हो गये थे, व्यवहार-कालमें तुम एक अन्तः-करणके साथ मिलकर उसकी वृत्तिको अपनी वृत्ति; उसके प्रमाण-कर्म-भोगको अपने प्रमाण-कर्म-भोग तथा उसकी वासना एवं प्रवृत्तिको अपनी वासना एवं प्रवृत्ति मान रहे हो।

साथ-साथ यह भी कि—'हम द्रष्टा हैं। दूसरे द्रष्टा नहीं हैं। हम ज्ञानी हैं, दूसरे सब अज्ञानी हैं। हमारी समाधि लगी, दूसरे सब विक्षिप्त हैं। हम मुक्त दूसरे सब बद्ध।' यह तो तुमने भेद बढ़ा लिया। अतः द्रष्टाका विवेक करो। यदि तुम द्रष्टा हो तो अपनेको द्रष्टा कैसे जानते हो? कहा गया—'अपनेको दृश्यसे अलग करके द्रष्टा जानते हैं। हम पाँचों विषयों तथा उनके अभावके द्रष्टा हैं। हम पाँचों कर्मेन्द्रियोंके, उनके कर्मके द्रष्टा हैं। हम मनकी पाँचों वृत्तियोंके द्रष्टा हैं। विषय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा वृत्तियोंके अभावके भी हम द्रष्टा हैं।

तुमने दृश्यको जाना या द्रष्टाको जाना? जो जाना गया, वह द्रष्टा नहीं है। तुमने दृश्यको जाना तो द्रष्टाको कहाँ जाना! जैसे तुम एक अन्तःकरणकी समाधि-विक्षेपके द्रष्टा हो, वैसे ही हजार-हजार साधक अपने-अपने अन्तःकरणोंकी समाधि और विक्षेपके द्रष्टा हैं। तब कितने द्रष्टा हैं?

अन्यगत विशेषसे अन्यमें भेदकी कल्पना करना सर्वथा अनुभवके विरुद्ध है। जैसे सबके शरीर अलग-अलग उत्पन्न होते हैं, अलग-अलग मरते है, अलग-अलग काम करते हैं, सबकी वासनाएँ अलग-अलग होती हैं, अलग-अलग खाते-पीते-सोचते हैं, परन्तु यह

सब अलगाव तो अन्तःकरणमें है। यह अलगाव तुम द्रष्टामें आरोपित कैसे करते हो ?

संस्कृतमें एक शब्द है सामान्याधिकरण्य। एक ही आधारमें दो वस्तुओंका होना—सामान्याधिकरण्य है। जैसे—एक बर्तनमें दूध-पानी मिलाकर रख दें। एक वैयाधिकरण्य है। एक बर्तनमें आग-पानी दोनोंको नहीं रख सकते। द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित है। अन्तःकरण दृश्यमें कल्पित है। अतः अन्तःकरणकी प्रातिभासिक सत्ता है और द्रष्टाकी पारमार्थिक सत्ता है। प्रातिभासिक सत्तावाली वस्तु पारमार्थिक सत्ताका कोई विरोध नहीं कर सकती। आपसमें समसत्ता होती है, तब विरोध होता है। परस्पर विषम सत्ता होनेपर विरोध नहीं होता। जैसे—जागतेमें आग लगे और स्वप्नमें तुमने गंगाजीमें बाढ़ देखा हो, तो स्वप्नका पानी जाग्रत्की आग नहीं बुझायेगा। आसपास चाहे जितने पानीके घड़े भरे रखे हों, जाग्रत्के उस पानीसे सपनेमें लगी प्यास नहीं बुझ सकती। द्रष्टा देश, काल, वस्तुका द्रष्टा एवं अधिकरण है तथा देश, काल, वस्तुके अभावका भी अधिकरण है। ऐसी दशामें एक देशमें, एक कालमें, एक आकारमें प्रतीत होनेवाला अन्तःकरण द्रष्टाका विरोधी नहीं हो सकता।

जैसे नक्शेमें एक मील बराबर पच्चास मील या पाँच सौ मील; यह नक्शा बनानेवालेकी कल्पना है, वैसे ही एक अद्वितीय परमात्मामें पंचकोश, पंचभूत, पंचविषय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचप्राण, अन्तःकरणकी पाँच वृत्तियाँ, ये सब भेद कल्पित हैं। ये भेद व्यवहारका चलानेके लिए हैं। शरीर-भेद और अन्तःकरणमें भेद होनेपर भी द्रष्टामें भेद नहीं हो सकता। जैसे दर्पण बहुत होनेसे सूर्य बहुत नहीं हो जाता। अर्थात् द्रष्टा अनेक नहीं हैं।

तुमको द्रष्टा होना नहीं है, तुम द्रष्टा हो। द्रष्टा अनेक नहीं होता। द्रष्टा एक है।

अब मान लो कि काल द्रष्टा-दृश्यके मध्यकी विभाजक रेखा है। क्या है वह ? क्या एक कालमें द्रष्टा रहता है और एक कालमें दृश्य रहता है ? कालके भावाभावको तो द्रष्टा ही देखता है। एक देशमें द्रष्टा रहता है शरीरके भीतर और बाहर दृश्य रहता है, तब शरीर दृश्य है या नहीं ? द्रष्टा चेतन है और दृश्य जड़ है तो इनका विभाजक क्या है ?

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे यही बात मैंने पूछी। वे बोले 'अज्ञान'। अर्थात् देश,काल वस्तुके परिच्छेदसे रहित द्रष्टा परिच्छेद-के अत्यन्ताभावका अधिकरण है—यह न जानना। इस अज्ञानसे दृश्यमान देश, काल, वस्तुको हम सत्य समझते हैं। अज्ञानके अति-रिक्त द्रष्टा-दृश्यकी विभाजक कोई रेखा नहीं ह।

दृश्यसे द्रष्टा अलग है, परन्तु द्रष्टासे दृश्य अलग नहीं है। जैसे पैसेसे रुपया अलग है, परन्तु रुपयेसे पैसा अलग नहीं है।

क्या द्रष्टाके पीछे कोई प्रकाशक है ? हम उसे नहीं जानते हैं—यह दृष्टि अज्ञानमें बनती है या नहीं ? द्रष्टा अपने स्वरूपको न जानकर ही अपने पीछेकी कल्पना करता है। स्वयं-प्रकाश द्रष्टाका कोई प्रकाशक हो तो उसे कौन जानेगा ? अतः द्रष्टाका दूसरा कोई प्रकाशक नहीं है।

किसीको लगे कि—'मैं ज्ञानी मुक्त हूँ और दूसरे अज्ञानी बद्ध हैं' तो ऐसा जिसको लगे, वह न ज्ञानी है, न मुक्त है।

द्रष्टा-दृश्यका विवेक अज्ञानको दूर करके आपको अद्वितीय ब्रह्मबोध करा देनेके लिए है। ●

• **संगति—**

एक देखनेवाला वह है जो आँख और मनके साथ मिलकर संसारको देखता है। एक देखनेवाला वह है जो आँख और मनके साथ बिना मिले संसारको देखता है।

यह समझनेके लिए थोड़ा पीछे हटना पड़ेगा। दूसरे सब साधन आगे बढ़कर होते हैं; किन्तु योग और वेदान्तका साधन पीछे हट-कर होता है। आपको धर्म करना हो तो हाथसे माला उठाओ और किसीको पहना दो। यह पुण्य हो गया; क्योंकि आपने उसका आदर किया। इसमें स्थूल वस्तुका उपयोग हुआ। हाथसे क्रिया हुई। मनका भाव लगा। वस्तुसे, क्रियासे, भावसे दूसरेका आदर करना धर्म हो गया। इसमें हृदयसे निकलकर हाथमें, मालामें और दूसरेके गले तक जाना पड़ा। लेकिन योगाभ्यास करना होगा तो माला रख देना होगा। हाथकी क्रिया रोक देनी होगी। मनको शान्त करना होगा। बाहरसे भीतरको ओर गति होगी तब योग होगा।

उस निरुद्ध शान्त चित्तसे भी अलग होकर आप उसे देखेंगे, तब आप कहाँ बैठे हैं? यह द्रष्टा चञ्चल और निरुद्ध दोनों प्रकारके मनसे अलग होकर मनको देखता है।

जैसे कुल्हाड़ा चलानेकी क्रिया है—हाथसे कुल्हाड़ा उठाता है और उसे लकड़ीपर मारता है। कुल्हाड़ेको उठाना और लकड़ीपर मारना, यह लकड़ीको दो टुकड़े करनेकी क्रिया हुई; परन्तु अपने ऊपर कुल्हाड़ा नहीं चलाया जाता। यहाँ तो हाथका भी शान्त कर दिया जाता है। यहाँ तो विवेकका कुठार भी अन्ततः छूट जाता है।

योगकी दृष्टिसे विचार भी एक विक्षेप है। वेदान्तकी दृष्टिसे समाधि भी एक लय है। वेदान्तकी दृष्टिसे शान्तावस्था भी चित्तकी एक अवस्था है।

दृग्-दृश्य विवेक करनेके लिए आपको अत्यन्त अन्तर्मुख होना पड़ेगा। यह विवेक अत्यन्त स्थूलावस्थासे प्रारम्भ होता है।

वेदान्तमें इसे प्रक्रिया कहते हैं अर्थात् विचार करनेका एक ढंग। अद्वैत वेदान्तकी मुख्य प्रक्रिया है, अध्यारोप और अपवाद।

वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्।

शास्त्रका वचन समझाता है, कराता नहीं है। अध्यारोप-अपवादकी प्रक्रियामें पहले कहेंगे—'ब्रह्म ज्ञेय अर्थात् ज्ञातव्य है। ब्रह्मको जानना बहुत आवश्यक है। ब्रह्मको नहीं जानोगे तो अपने को परिच्छिन्न जानते रहोगे। परिच्छिन्न जानते रहोगे तो दुःखी-सुखी होते रहोगे। पापी-पुण्यात्मा होते रहोगे। जीते-मरते रहोगे। संसारसे तुम्हें छुट्टी नहीं मिलेगी। अतः जानने योग्य तो ब्रह्म ही है।'

तब ब्रह्म क्या ज्ञानका विषय है?

'नेति-नेति' ज्ञेयता तो कर्तव्यताकी दृष्टिसे बतलायी कि तुमको जानना चाहिए। ज्ञेय तो ज्ञानके विषय रूपसे भी हो सकता है और ज्ञानके आश्रयरूपसे भी हो सकता है। ब्रह्मको ज्ञेयके रूपमें मत जानो कि वह घड़े, कपड़े या मकानकी भाँति है। ब्रह्मको ज्ञाता-की भाँति जानो।

ब्रह्मको जाननेसे क्या होगा? वह मिल जायगा। 'ब्रह्म क्या अनमिला है?'

नहीं, ब्रह्म अप्राप्य नहीं होता। लेकिन संसार जो तुम्हारे सिरमें भर रहा है, उसे निकालनेके लिए ब्रह्मको मिलनेवाला मान लो तो हानि क्या है? इसका अर्थ है कि और कुछ प्राप्य नहीं है, केवल ब्रह्म ही प्राप्य है। संसारमें प्राप्त करने योग्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

आत्मलाभान्न परं विद्यते।

अपनेको पानेसे बड़ा लाभ दूसरा कोई नहीं है। अतः अपनेको प्राप्त करो।

मेरा हीरा हेराय गयो कचरे में।

माँ-बेटी, स्त्री-पुत्र, धन-भवन, पद-प्रतिष्ठाके कचरेमें यह हीरा खो गया है। इसको ढूँढ़ निकालो। अपने आपको ढूँढ़ निकालनेसे बड़ा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं।

'तुम कभी ज्ञेय कहते हो, कभी प्राप्य कहते हो तो इसे किस रूपमें प्राप्त करें?'

वेदान्त कहता है—दूसरा नहीं है, अतः इसे कहीं जाकर या बुलाकर पाना नहीं है। इसपर मलिनता नहीं लगी है कि इसका संस्कार करना है। यह कच्चा नहीं है कि इसे पकाना है—जैसे कच्चे चावलको पकाकर भात बनाते हैं। ब्रह्म आप्य, संस्कार्य, विकार्य, उत्पाद्य नहीं है। पुत्र उत्पन्न होता है, वैसे यह उत्पन्न नहीं होता। ब्रह्म तो अपना आपा है।

पहले तो साधारण आदमीको यही पता नहीं कि द्रष्टा-दृश्यका विचार करनेसे लाभ क्या है? मनुष्यकी सामान्य वृत्ति जबतक कुछ पानेकी होती है, तबतक, वह लाभ देखे बिना—प्रयोजन देखे बिना किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता।

प्रयोजनमनुदिश्य मूढोऽपि न प्रवर्तते।

मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी प्रयोजनका विचार किये बिना कि 'इससे हमें क्या लाभ होगा' किसी भी काममें नहीं लगता। अतः द्रष्टा-दृश्य-विचारसे लाभ क्या?

आत्मलाभान्न परं विद्यते।

श्रुति कहती है कि अपनेको पानेसे बड़ा लाभ दूसरा नहीं है। तुम तो अपनेको ही खो बैठे हो।

दो व्यक्ति लड़ रहे थे। उनमें-से एकने दूसरेकी जेब काटी थी।

एक व्यक्ति छुड़ाने गया। छुड़ानेके प्रयत्नमें जिसकी जेब कटी थी, उसका हाथ छुड़ानेवालेको लग गया, अतः वह उसीसे उलझ गया। यह अवसर पाकर जेबकतरा भाग गया। जो छुड़ाने गया था वह तो साथी था। उसकी न जेब कटी थी, न उसने जेब काटी थी। वह न अभियुक्त था, न अभियोक्ता; किन्तु वह दोनोंके बीचमें कूद पड़ा और स्वयं अभियुक्त बन गया। पुलिस उसे पकड़ ले गयी कि तुम बीचमें क्यों आये ?

संसारका व्यवहार ऐसे ही हो रहा है। उसमें साक्षी कूद पड़ता है और अपनेको एक पक्षी बना लेता है। कर्ता-भोक्ता बन जाता है। संसारमें जितने झगड़े हो रहे हैं, उन दोनों पक्षोंमें-से तुम कोई नहीं हो, साक्षीका यह तात्पर्य है।

लोग पूछते हैं—'जब यह सृष्टि नेत्र, कर्ण, त्वचा, नासिका, रसना, मनसे प्रत्यक्ष हो रही है तो यह प्रमाण-प्रतिपन्न सृष्टि सच क्यों नहीं है ?'

बचपनमें मैं जब यह पुस्तक 'वाक्य-सुधा' पढ़ता था, तब मैंने यह उत्तर बुद्धिमें जमा रखा था—'यह जो तुम्हें संसार दीख पड़ता है, वह संसारके साधनोंसे दीखता है या बिना संसारके ? तुम्हारे नेत्र, कर्ण, त्वचा, नासिका, रसना, मन ये भी संसार ही हैं या ये संसार नहीं हैं ?'

'यह भी संसार ही है।'

तब संसारसे ही तो संसार दीखता है। संसारके विषयमें कोई ऐसा प्रमाण बतलाओ जो संसार न हो। चोरका गवाह चोर ! संसारके अस्तित्वके विषयमें संसार प्रमाण नहीं हो सकता; अतः तुम पहले सृष्टि मत बनो। द्रष्टा बनो। द्रष्टा बननेकी पद्धति समझाते हैं—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्तु मानसम् ।
दृश्याधीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥ १ ॥

रूप दृश्य है और नेत्र रूपके द्रष्टा हैं; किन्तु नेत्र भी दृश्य हैं और नेत्रोंका द्रष्टा मन है। मन भी बुद्धि वृत्तिका दृश्य है, किन्तु जो बुद्धि वृत्तिको देखनेवाला साक्षी है, वह दृङ्मात्र है। वह किसीका दृश्य नहीं होता।

पहले विभाग करो—'अहं और इदं'—मैं और यह। संसारमें दो तत्त्व हैं—एक 'यह'के रूपमें मालूम पड़ता है और एक 'मैं'के रूपमें। मालूम पड़नेको ही वेदान्तकी भाषामें प्रतीति कहते हैं। यही भासना है।

परिच्छिन्नताका अर्थ है—टुकड़े-टुकड़े भासना। अब देखो कि जो वस्तु टुकड़े-टुकड़े होगी वह 'इदं' होगी या 'अहं' होगी ?

परिच्छिन्नता ही दृश्य है। चाहे वह कालकी परिच्छिन्नता हो—भूत, भविष्य, वर्तमान। चाहे वह देशकी परिच्छिन्नता हो—बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण। चाहे वह वस्तुकी परिच्छिन्नता मात्र दृश्य होगी या नहीं ?

जब परिच्छिन्नता दृश्य होगी तो उसका द्रष्टा परिच्छिन्न विलक्षण होगा या नहीं ?

तुरन्त ही सम्भावना हो गयी कि यह जो सर्वका, हृदयका, परिच्छिन्नताका द्रष्टा है, वह द्रष्टा ही कहीं अनन्त, अद्वितीय परं ब्रह्म तो नहीं है। प्रारम्भमें ही यह सम्भावना मनमें उदय हो जायगी कि यह अनेकका द्रष्टा अनेक नहीं है, एक है। जो जड़का द्रष्टा है, वह चेतन है। जो अनित्यका द्रष्टा है, वह नित्य है। क्योंकि जो जिसका द्रष्टा होता है, वह उससे विलक्षण होता है। घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे न्यारा होता है।

यह द्रष्टा-दृश्यका विवेक आत्माके ब्रह्म होनेकी सम्भावनाको पक्की करनेवाली बुनियादी विचारधारा है।

'रूपं दृश्यं लोचनं दृक्'—रूप देखा जाता है और आँख देखती है; किन्तु अन्धेकी या मुर्देकी आँख तो नहीं देखती। अतः आँखके भीतर कोई ऐसा देखनेवाला है, जो आँखके रास्ते रूपको देखता है। आँख तो एक खिड़की है। जैसे हम-आप अपनी खिड़कीपर खड़े होकर सड़कपर चलती मोटरोंको देखते हैं, ऐसे ही हम आँखकी खिड़कीमें पीछेकी ओर बैठकर सामने बहती-चलती वस्तुओंको देखते हैं। इसे यहीं पूरा नहीं करना—

'शब्दो दृश्यं श्रवणं दृक्'—शब्द दृश्य है और कान द्रष्टा है। कान नहीं सुनता, कानमें बैठकर कोई सुनता है।

स्पर्श दृश्य है, त्वचा द्रष्टा है। गन्ध दृश्य है, नासिका द्रष्टा है। रस दृश्य है, रसना द्रष्टा है। अर्थात् जिसको मालूम पड़ता है, वह द्रष्टा है और जो मालूम पड़ता है, वह दृश्य है। तुम वह नहीं हो जो मालूम पड़ता है। तुम वह हो जिसको मालूम पड़ता है।

'लोचनं दृश्यं दृक् तु मानसम्'—रूपको देखनेवाली आँख बन गयी थी; किन्तु रूपको तो मन देखता है।

पाँच-सात वर्ष पहले एक दिन डाक्टरने कहा था—'आपकी आँख तो जा रही है।'

मार्गमें चलते-चलते दादाने पूछा—'आपको कहाँ तक दीखता है?'

मैं—'मुझे सूर्य दीखता है, चन्द्रमा दीखता है, तारे दीखते हैं।'

वस्तुतः नेत्र भी दीखते हैं; किन्तु आँख-से-आँख नहीं दीखती। आँख मनसे दीखती है। यहाँ नियम बना—देखनेवाला देखा नहीं जाता। यह कर्तृ-कर्म विरोध है—जैसे कोई कहे—'हम अपने

कन्धेपर चढ़कर बैठे हैं।' कन्धेवाला और उसपर चढ़कर बैठनेवाला दोनों एक नहीं हो सकता। दीखनेवालेसे देखनेवाला न्यारा होता है। दर्पणमें नेत्र नहीं दीखते—नेत्रोंका प्रतिबिम्ब दीखता है।

हमारी आँख मन्दी, तेज है, अन्धी है या आँखसे देखनेमें भूल हो गयी, आँखकी यह सारी बातें कौन जानता है? मन जानता है। अतः मन द्रष्टा है और नेत्र दृश्य है।

'वे बड़ो दूरकी वस्तु देख लेते, बड़ी दूरकी बात सुन लेते, बड़ी सूक्ष्म गन्ध सूँघ लेते हैं, बहुत सूक्ष्म स्पर्श जान लेते हैं, बड़ा सूक्ष्म स्वाद पहचान लेते हैं; परन्तु देखनेवाला इन नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा, रसनासे न्यारा है। इनको वह देखनेवाला कहाँ बैठकर देखता है? मनमें।

'दृक् तु मानसम्' मन द्रष्टा है। मन इन सब नेत्रादिसे न्यारा है। मन-से-मन नहीं दीखता।

विषयोंको देखा इन्द्रियोंने तो विषय इन्द्रिय नहीं हैं। इन्द्रियोंको देखा मनने तो मन इन्द्रिय गोलक नहीं है। इन इन्द्रिय गोलकोंसे मन विलक्षण है।

'रूपं दृश्यं'—जब हम किसी वस्तुको देखते हैं तो कितना परामर्श होता है—

अहं अनेन अस्मिन् देशे एतावत्कालपर्यन्तं,
इदं एतद् वस्तुं एतादृशं पश्यामि।

यह हमारी दर्शन-क्रियाका विवरण है—मैं इस इन्द्रिय यन्त्र द्वारा इस जगह—बाहर या भीतर, इतनी देरतक इस वस्तुको इस रूपमें देख रहा हूँ।

इसमें पहले 'मैं' है, फिर करण है, स्थान है, समय है, वस्तु है और वस्तुका प्रकार है, उसका दर्शन हो रहा है।

'अहं पश्यामि'—मैं देखता हूँ, इसमें 'मैं' और देखना अलग-

अलग हो गये हैं। तब ऐसे भी कहोगे—'मैं नहीं देखता हूँ। सुषुप्ति-में मैं जाग्रत् और स्वप्नकी चीजोंको नहीं देखता हूँ।' यहाँ देखना-न-देखना दोनोंसे अलग 'मैं' मालूम पड़ता है। इसका अर्थ है कि देखना और न देखना उपाधिमें है। अपना ज्ञान-स्वरूप दोनोंसे न्यारा है, जैसे—

'अहं चक्षुर्भ्यां बहिर्देशे अस्मिन् काले श्वेतिमानमुद्वहन्तं पुष्पं द्रक्ष्यामि।' मैं दोनों नेत्रोंसे बाहरी देशमें इस समय श्वेतिमा धारण किये इस पुष्पको देख रहा हूँ।

विचार करो कि पुष्प होना, काल होना, करण—नेत्र होना, देश होना, पुष्पका श्वेत होना, यह सब दृश्य होगा। काल भी दृश्य हो गया—इतने समयतक। पुष्प देशमें है। यह वह भी मालूम पड़ रहा है। बाहर-भीतर मालूम पड़ रहा है। इस स्थान-में यह पुष्प कभी रहता है, कभी नहीं रहता। इस कालमें भी पुष्प कभी रहता है कभी नहीं रहता। यह काल तो जानेके बाद कभी लौटता ही नहीं। पुष्प ऐसा ही नहीं रहता—सड़ जाता है, सूख जाता है। सदा यहाँ पुष्प ही नहीं दीखता। पुष्पका रूप नेत्रसे, गन्ध नाकसे, कोमलता त्वचासे मालूम पड़ रही है। यह सब दृश्य है। जिन वृत्तियोंसे ये मालूम पड़ते हैं, वे वृत्तियाँ भी दीख रही हैं। यह देखनेवाला अजब है और गजब ही देख रहा है, यह तो हम फँस-फँसकर देखते हैं, अतः यह देखना मालूम पड़ता है।

जो माताका बेटा दीख रहा है, वह बापका बेटा है। बापका बेटा भी नहीं, गेहूँका बेटा है। गेहूँका बेटा भी नहीं, पञ्चभूतका बेटा है। पञ्चभूतका भी बेटा नहीं, प्रकृतिका बेटा है। प्रकृतिका बेटा नहीं, ईश्वरका बेटा है। ईश्वरका बेटा नहीं, मायाका बेटा है। मायाका बेटा नहीं, ब्रह्मका बेटा है। ब्रह्मके तो बेटा होता ही नहीं। तब यह बेटा बिना हुए ही भास रहा है।

हम ज्ञाता कब बनते हैं ? जब किसी कारणके द्वारा देखते हैं। जब प्रमाणके द्वारा प्रमेयको देखते हैं। जब वृत्तिके द्वारा विषयको देखते हैं। तब हमारा नाम ज्ञाता होता है।

'अहं अनेन इदं पश्यामि' मैं इसके द्वारा इसको देखता हूँ। इस त्रिपुटीमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयका भेद होता है। त्रिपुटीमें ही ज्ञातापना होता है। जहाँ त्रिपुटी नहीं है, वहाँ ज्ञातापना नहीं होता। सुषुप्तिमें ज्ञातापना नहीं है; क्योंकि वहाँ प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार नहीं है।

मैं नेत्रसे रूप देख रहा हूँ, कर्णसे शब्द सुन रहा हूँ, त्वचासे स्पर्श कर रहा हूँ, जीभसे स्वाद ले रहा हूँ, नाकसे गन्ध सूँघ रहा हूँ, मनसे सोच रहा हूँ—यह व्यवहार है। यह व्यवहार सुषुप्तिमें न होनेके कारण सुषुप्तिमें ज्ञातापना नहीं है। लेकिन वहाँ अनुभव है।

एक बार एक महात्मासे किसीने पूछा—'बुद्धिसे बड़ा सृष्टिमें और कुछ है ?

महात्मा—'बुद्धिसे बड़ा अनुभव है। बुद्धि कभी निश्चय करती है—कभी अनिश्चय, परन्तु निश्चय-अनिश्चय करनेवाली बुद्धिका जो प्रकाश है, वह बुद्धिसे बहुत बड़ा है।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको जीव कहते हैं। अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्यको ईश्वर कहते हैं। अनवच्छिन्न चैतन्यको ब्रह्म कहते हैं।

अंकुरावच्छिन्न चैतन्यका नाम जीव है। बीज-समष्टि अवच्छिन्न चैतन्यका नाम ईश्वर है। ब्रह्म अनवच्छिन्न चैतन्य है।

'रूपं दृश्यं'—जैसे जीभ एक रहती है, स्वाद अनेक होते हैं। नेत्र एक-से रहते हैं, रूप अनेक होते हैं। त्वचा एक रहती है, स्पर्श अनेक होते हैं। नाक एक रहती है, गन्ध अनेक होती है।

कान एक-से रहते हैं, शब्द अनेक होते हैं, ऐसे ही मन एक रहता है, भाव अनेक होते हैं।

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्यात्।

ये सब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध अलग-अलग हैं, परन्तु इनको जाननेवाला इनसे पृथक् एक है।

ततो विभक्ता तत्संवित् ऐक्यरूपान्न भिद्यते।

इन शब्दादि वृत्तियोंसे विलक्षण है, इनको जाननेवाला और इनके अलग-अलग होनेपर भी वह अलग-अलग नहीं होता। इसी प्रकार मनमें भी नाना प्रकारकी वृत्तियाँ आती रहती हैं। मन बदलता रहता है, परन्तु द्रष्टा एक ही रहता है। इन्द्रियाँ बदलती हैं, कभी सशक्त, कभी दुर्बल होती हैं, परन्तु मैं सदा एक रहता हूँ।

प्रमाण-वृत्ति रंगसे रँग रही है। अतः एक बार अन्तःकरणको छोड़ो, तब अन्तःकरणका अभाव दीखेगा। यह अभाव ही माया है। तुम अन्तःकरणको अपना समझते हो, इसलिए तुम्हारा नाम जीव है। सब अन्तःकरणोंके अभावको अर्थात् बीजको, मायाको, अपनेमें लेकर बैठा है ईश्वर! अभावमें विशेष नहीं होता। विशेष न होनेके कारण जो अनिर्वचनीय सम्पूर्ण विशेषताओंका कारण उस अभावमें उपस्थित है; इससे उसे निर्विशेष नहीं कह सकते। देखनेमें कोई विशेषता आती नहीं, इससे उसमें किसी कारणका निरूपण नहीं कर सकते। यह कार्य-दृष्टिसे सबीज—अधिष्ठानकी दृष्टिसे निर्बीज है। इस अभाव-तत्त्वका नाम माया है। परं ब्रह्म परमात्माके जितने अंशमें यह आरोपित है, उतने अंशको ईश्वर कहते हैं। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न द्रष्टा भावाभाव दोनोंकी कल्पनासे रहित है—यही ब्रह्म है।

'रूपं दृश्यं'—मनुष्यको पहली दशामें लगता है कि 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ और जानता हूँ।' कर्मेन्द्रियोंकी उपाधि अपनेमें मान-

कर मनुष्य अपनेको कर्ता मानता है। 'हाथ-पैर आदि मेरे हैं। इनके द्वारा मैं काम करता हूँ।' ऐसा माननेपर कर्ता बन जाता है।

'नेत्र-कर्ण-नासिका-रसना-त्वचासे मैं देखता-सुनता-सूँघता-चखता और छूता हूँ।' इस प्रकार इन ज्ञानेन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण ऐसा लगता है कि 'संसारको जाननेवाला मैं हूँ।'

जिसने कर्मेन्द्रियोंके सम्बन्धसे अपनेको कर्ता माना, वह चेतन है। जिसने ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धसे अपनेको ज्ञाता माना, वह भी चेतन है।

मनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह भी होते हैं और दानकी वृत्ति, प्रेमकी वृत्ति, सेवाकी वृत्ति भी होती है। इन वृत्तियोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर चेतन अपनेको सुखी-दुःखी, रागी-द्वेषी, सद्‌गुणी मानता है।

अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियोंके साथ अपना सम्बन्ध मानकर हम अपनेको कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता मानते हैं। इसी कर्ता, भोक्ता, ज्ञाताको लोक-व्यवहारमें जीव माना जाता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण और चेतन इन सबको मिलाकर 'जीव' शब्दका व्यवहार होता है।

हमारे अन्तःकरणमें जितने भी ज्ञान-संस्कार होते हैं, वे बाहरसे डाले जाते हैं। कुछ कानसे, कुछ आँखसे, कुछ नाकसे, कुछ जीभसे, कुछ त्वचासे। ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जो बाहरसे न डाला जाता हो।

द्रष्टाका पहला विवेक है—ये विषय मेरे नहीं हैं; क्योंकि मैं विषय नहीं हूँ। मैं विषयोंका ज्ञाता हूँ। विषय न 'मैं' हूँ, न ये 'मेरे' हैं।

दूसरा विवेक—यह देह न 'मैं' हूँ न देह 'मेरा' है। देह है, परन्तु देहका मैं ज्ञाता हूँ।

तीसरा विवेक—कर्मेन्द्रियाँ न 'मैं' हूँ, न ये 'मेरी' हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ न 'मैं' हूँ, न ये 'मेरी' हैं। मैं कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंका ज्ञाता हूँ। ये इन्द्रियाँ अनेक हैं। इनमें कभी कोई इन्द्रिय काम करती है, कभी नहीं करती। परन्तु मैं तो एक हूँ।

मनमें कभी सुख आता है, कभी दुःख। कभी राग आता है, कभी द्वेष। कभी दया आती है, कभी घृणा या ग्लानि। इनमें कोई वृत्ति टिकाऊ नहीं होती। मैं तो एक हूँ और मनकी सब वृत्तियोंके आने-जानेका ज्ञाता हूँ।

अपनेमें द्रव्यका सम्बन्ध अर्थात् मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाशका सम्बन्ध तथा इनसे बने शरीरका सम्बन्ध, शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियोंका सम्बन्ध, इसमें रहनेवाले अन्तःकरणका सम्बन्ध और अन्तःकरणमें उठनेवाली वृत्तियों—सुख-दुःख, राग-द्वेष आदिका सम्बन्ध। एक बार इन सब सन्बन्धोंको काट दीजिये।

आप कर्ता-भोक्ता, देही-देह नहीं हैं और देहके कारण जो आपमें आरोपित भाव है, वे भी नहीं है। मनुष्यपना भी आपमें देहके कारण आरोपित है। एकबार आप अपनेको ज्ञाताके रूपमें पहिचानें कि 'मैं जिनको जानता हूँ, उनसे भिन्न हूँ।' यह पहली बात है कि आप अपनेको ज्ञेयसे विलक्षण ज्ञाता समझो।

यहाँ प्रश्न है कि आप ज्ञाता हो तो देह और अन्तःकरणके भीतर रहकर या इनको छोड़कर ज्ञाता हो? दूसरेके अन्तःकरणमें जो चञ्चलता या समाधि है, पाप या पुण्य है, कर्म या भोग है, उसे आप क्या समझते हो? इसपर विचार करोगे तो आपको ज्ञात हो जायगा कि आप चमड़ेकी पिटारी (देह)में बन्द होकर अपनेको ज्ञाता सोचते हो।

ज्ञाता दो प्रकारका है। एक आभास-चैतन्यमें ज्ञातृत्वका आरोप

होता है। दूसरा प्रमाता-चैतन्यमें ज्ञातृत्वका आरोप होता है। है दोनों आरोप ही।

आभासका अर्थ है कि अन्तःकरणमें एक प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है, जैसे आपने नेत्रसे देखा घड़ी या पुष्प। अब अन्तःकरणमें वृत्ति बनी—'मैंने घड़ी या पुष्प जान लिया'। इस वृत्तिसे युक्त जो 'मैं' है इसे आभास चेतन कहते हैं।

तुम तो समझ रहे हो कि 'मैंने घड़ेको देख लिया, मैं घड़ेको जानता हूँ' लेकिन एक व्यक्ति दूसरा यहाँ बैठा है, जो न घड़ेको देख रहा है, न घड़ेको जानता है, तो तुम्हारे अन्तःकरणके आकारमें अन्तर है या नहीं। तुम्हारे अन्तःकरणमें जो यह वृत्ति हुई कि 'मैं घड़ेको जानता हूँ' यह तुम्हारे अन्तःकरणकी वृत्तिका आकार है और इससे तादात्म्य करके अर्थात् वृत्तिमें प्रतिफलित होकर तुम अपनेको घड़ेका जाननेवाला मानते हो। यह आभास चैतन्य है। वृत्तिका आकार अपने ऊपर आरोपित करके तुम अपनेको जानकार मानते हो।

जीवकी अपेक्षा यह ज्ञाता-चैतन्य, आभास-चैतन्य-विशेष है। इसीको प्रमाता-चैतन्य कहते हैं। इस प्रमाता-चैतन्यमें दो भेद हैं, १. अवच्छेदवाद, २. आभासवाद।

मैं घड़ेको जानता हूँ, अतः घड़ेसे न्यारा हूँ। मैं देहको जानता हूँ, अतः देहसे न्यारा हूँ। लेकिन अन्तःकरणमें जो वृत्ति है 'अहं घटज्ञः' मैं घटका ज्ञाता हूँ—इस प्रत्ययके साथ तादात्म्य करके ही तुम अपनेको घड़ेका जाननेवाला मानते हो। वृत्तिमें प्रतिफलित चैतन्यको 'मैं' मानते हो तो आभास हो; लेकिन वृत्तिमें प्रतिफलित 'मैं घड़ेका ज्ञाता हूँ'—इस 'अहं' प्रत्ययके भी तुम द्रष्टा हो तो अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य हो। जैसे घड़ेमें पानी भरकर रख दिया, उसमें आकाशकी नीलिमा प्रतिबिम्बित हो रही है। पानी तो हाथ

भर है; परन्तु उसमें प्रतिबिम्बित आकाशको नीलिमा बहुत दूरकी है—पानी बहुत गहरा लग रहा है। पानीमें जो गहराई लगती है, वह आभास आकाश है। जिस आकाशमें वह पानी रह रहा है, वह अविच्छिन्न आकाश है।

इसके तीन भेद हैं—१. महाकाश, २. घटाकाश, ३. प्रतिबिम्बाकाश। जलमें जो आकाश दीख रहा है, वह प्रतिबिम्बाकाश—आभास है। जल जिसमें स्थित है, वह घटाकाश है और घट जिसमें स्थित है, वह महाकाश है।

प्रश्न यह है कि अन्तःकरणमें तुम हो या तुममें अन्तःकरण है? यदि तुममें अन्तःकरण है तो तुम अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य हो—अवच्छेदवादकी रीतिसे इसीको प्रमाता, ज्ञाता कहते हैं। वस्तुतः वृत्ति ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय है और वृत्त्यावच्छिन्न चेतन्य ही ज्ञाता है।

सचमुच यह अन्तःकरणावच्छिन्न द्रष्टा न कर्ता है, न भोक्ता है, प्रमाता ही है। एक अन्तःकरणके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

विवेक कर लो कि कर्म और कर्मेन्द्रिय, भोग और भोगेन्द्रिय, वृत्ति और वृत्तिवाला अन्तःकरण, इसके तुम द्रष्टा चेतन हो। तुम अन्तःकरण, इन्द्रिय, देह अथवा इनसे भोगी जानेवाली वस्तु अथवा तदाकार वृत्ति नहीं हो। तुम चेतन हो। इस चेतनको सांख्य-दर्शन और योग-दर्शन भी बतलाता है।

योग-दर्शन भी कहता है—जब तुम अपनी वृत्तिका निरोध कर लेते हो—चाहे जैसे कर लो, उपाय अनेक हैं, वैराग्यसे भी वृत्तिका निरोध होता है, अभ्याससे भी वृत्ति-निरोध होता है। ईश्वरका ध्यान करनेसे भी निरोध होता है, प्राणायामसे भी निरोध होता है, शिथिलीकरणसे भी निरोध होता है, वासना-त्यागसे भी निरोध

होता है—निरोध हो जानेपर स्पष्ट लगता है कि इस निरोधको भी मैं देख रहा हूँ। जब अन्तःकरणका विक्षेप था, तब भी मैं जाननेवाला और निरोध है तब भी मैं जाननेवाला। अतः निरोध-कालमें द्रष्टाके सम्बन्धका भान नहीं होता—'अन्तःकरण मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, कर्म मेरे हैं, भोग मेरे हैं, वृत्तियाँ मेरी हैं, कर्माशय मेरे हैं, इन सब प्रतीतियोंका निरोध हो जाता है। ऐसे निरोधका जो साक्षी है—वह अन्तःकरणमें बँधा नहीं है। योग-दर्शनके अनुसार यह आत्मा विभु है।

इसमें दोष यह है कि जब इस निरोधका व्युत्थान होता है तो योगदर्शनके मतमें तत्काल वृत्तिके साथ सारूप्य हो जाता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

योग-दर्शनमें सम्बन्धका अभानमात्र ही होता है। जितनी देर समाधिमें–निरोधमें रहो, उतनी देर सम्बन्धका अभान हो जायगा। जहाँ जागो, वहाँ 'यह मेरा देह, यह मेरा अन्तःकरण, ये मेरी इन्द्रियाँ, ये मेरे कर्म, ये मेरे भोग, इस प्रकार तुरन्त कर्ता-भोक्ता होकर बाहर व्यवहारमें आ जायेंगे। वासनाके अनुसार काम होने लगेगा। वैसे समाधिकी प्रबलतासे वासनाका, अभिभव हो जाता है, वे क्षीण हो जाती हैं—यह बात भी सच्ची है।

सांख्य-दर्शनका द्रष्टा इससे विलक्षण है। वे कहते हैं—यदि तुमको सचमुच यह विवेक हो गया कि, मैं पञ्चभूत और भौतिक नहीं हूँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और उनके कर्म नहीं हूँ, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और उनकी वृत्ति नहीं हूँ, उनका ज्ञातव्य नहीं हूँ, अन्तःकरण नहीं हूँ और अन्तःकरणकी समाधि भी नहीं हूँ, अन्तःकरणका विक्षेप भी नहीं हूँ। मैं शुद्ध द्रष्टा हूँ। निरोध होनेपर मैं द्रष्टा होऊँ और निरोध टूटनेपर कर्ता-भोक्ता हो जाऊँ, ऐसी बात नहीं है।

रागोपहतिर्ध्यानम्।

ऐसा अपने द्रष्टा स्वरूपका विवेक हो गया तो इन्द्रियोंसे काम करते रहनेपर भी, हँसते-खेलते, बोलते-चालते, खाते-पीते रहनेपर भी 'मैं तो सचमुच द्रष्टा ही हूँ' तो व्यवहारमें भी सम्बन्धकी निवृत्ति है। सम्बन्धका मिथ्यात्व ज्ञान होना चाहिए कि सम्बन्ध झूठा है। यह सांख्यका द्रष्टा है।

सांख्योक्त रीतिसे जो द्रष्टा चेतन है—इसमें एक दृश्य है, एक द्रष्टा चेतन है। सांख्यका विवेक द्वैतको नहीं मिटाता। द्वैतके सम्बन्धको मिटाता है। योगकी द्रष्टामें स्थिति सम्बन्धके भानको केवल समाधि कालमें मिटाती है।

वेदान्त-दर्शन कहता है—वस्तु दो नहीं है। दूसरी वस्तु हो तो उसकी स्थिति क्या होगी?

एक देशमें द्रष्टा है, दूसरे देशमें दृश्य है?

एक कालमें द्रष्टा है, दूसरे कालमें दृश्य है?

एक चेतन वस्तु द्रष्टा है दूसरी जड़ वस्तु दृश्य है?

अथवा असंख्य द्रष्टा हैं और इस दृश्यको नियन्त्रित करनेवाला एक ईश्वर है? ईश्वर जिसको नियन्त्रित करता है, वह दृश्य है।

दृश्य, दृश्य-नियन्ता और दृश्यमें अलग-अलग द्रष्टा होना, एक भेद यह है।

त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।

सांख्य कहता है—सबसे बड़ा पुरुषार्थ है कि तीन प्रकारके दुःख जो जीवनमें हैं—वे कट जायँ। बाहरकी वस्तुओंके न मिलनेसे एक प्रकारका दुःख—आधिभौतिक दुःख। अचानक अतर्कित दैवी दुःख आ सकता है—आधिदैविक दुःख। न बाहर निमित्त हो न दैवी निमित्त हो, मनमें ही चिन्तादि हो वह आध्यात्मिक दुःख।

शत्रु-मित्र-मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरियाई,
त्यागब गहब उपेक्षणीय यह हाटक मनि की नाईं ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

'यह शत्रु है, यह मित्र है, यह मध्यस्थ है'—ये सम्बन्ध मनने बलात् गढ़ लिये हैं। 'इसे छोड़ देना चाहिए, इसे पकड़ लेना चाहिए, इसकी उपेक्षा करनी चाहिए' यह क्या है ? यह ऐसा है जैसे बाजारमें कोई हीरा हो तो एक विरक्त कहेगा—'छोड़ो, पत्थर है। क्या लेना-देना अपनेको इससे। एक व्यापारी कहेगा—यह लेने ही योग्य है। कममें मिलेगा तो लाभसे बिकेगा।' हीरा न त्याज्य है, न ग्राह्य, न उपेक्षणीय।

सांख्य केवल द्रष्टा बनाकर सारे दुःख मिटा देनेकी बात कहता है। लेकिन जबतक हल्के-फुल्के दृश्य होंगे, तबतक आप उनको द्रष्टा बनकर छोड़ सकेंगे; किन्तु यदि जीवनमें कभी बड़ा अवसर आगया तो द्रष्टापनका भाव, द्रष्टापनका अभिमान टिक नहीं सकेगा तब सांख्यका विवेक टिकेगा नहीं।

पुरैव प्रकृतिः संगं पुनराबाधयेत्।

जैसे पहले तुम द्रष्टा थे, बीचमें दृश्यसे सम्बन्ध करके मिल गये, ऐसे ही तुम दृश्यसे फिर नहीं मिल जाओगे, इसका आश्वासन क्या है ?

बिना द्वैतकी निवृत्तिके निर्भय पदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्त दुःखकी एवं द्वैतकी निवृत्ति नहीं, परमानन्द-स्वरूप ब्रह्मताकी प्राप्तिका प्रतिपादन करता है।

दृश्याधीवृत्तयः—आँखमें बैठकर विषयोंको–रूपको देखनेवाला और मनमें बैठकर इन्द्रियोंको देखनेवाला इनसे न्यारा है। मनकी वृत्तियाँ दृश्य हैं।

किसी-किसीका ख्याल होता है कि जब वृत्तियाँ चंचल न हों,

शान्त हों तो वे दृश्य नहीं हैं; लेकिन यह ठीक नहीं है। मनकी वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं, १. मूढ़, २. क्षिप्त, ३. विक्षिप्त, ४. शान्त, ५. निरुद्ध।

मूढ़—यह देहके साथ मिलकर बैठती है। इसमें प्रकाश और गति नहीं है। निद्रा मूढ़ वृत्ति है। 'मैं देह हूँ या मैं नेत्र, कर्णादि हूँ, ऐसा अभिमान किसीको नहीं होता। 'मैं मनुष्य हूँ' यह अभिमान होता है, 'मैं काना हूँ' या मैं 'बहिरा हूँ' यह अभिमान होता है।

यह अविवेककी पराकाष्ठा है। 'मैं आँख हूँ' यह भ्रम नहीं होता, पर 'मैं काना हूँ' यह भ्रम हो जायगा। 'अन्धा हूँ' यह भ्रम हो जायगा। आँख एक है या दोनों नहीं है, पर तुम काने या अन्धे नहीं हो। यह तो इन्द्रिय-धर्मका अपनेमें आरोप हो जाता है।

देहका अध्यास नहीं होता, परन्तु देह-धर्मका अपनेमें अध्यास होता है। 'मैं लँगड़ा हूँ' यह अभिमान होता है; किन्तु 'मैं पैर हूँ' यह अभिमान नहीं होता। 'मैं लूला हूँ' यह अभिमान होता है, पर 'मैं हाथ हूँ' यह अभिमान नहीं होता। जब तुम हाथ या पैर नहीं हो तो तुम लूले या लँगड़े कैसे हो? मनके द्वारा इन्द्रियोंके धर्म अपनेपर तुम आरोपित कर लेते हो। यहाँ देह, मन-इन्द्रियोंसे मिल गया है। मूढ़का अर्थ हूँ—'इतनी देर मेरा चित्त मूढ़ था, कुछ सूझता ही नहीं था।' मूढ़ होनेकी अनेक वृत्तियाँ हैं।

क्षिप्त—इतनी देर मन स्वर्गमें था—मन दूरके कल्पनामें फेंक दिया गया था। इसको भी अनेक वृत्तियाँ हैं।

विक्षिप्त—मन थोड़ी देर स्वादमें, थोड़ी देर गन्धमें, थोड़ी देर स्त्री या पुरुषमें, थोड़ी देर धनमें गया। यह मनकी चंचलता विक्षिप्त वृत्ति है।

एकाग्र—मनमें कई मिनट कोई वृत्ति उदय नहीं हुई, यह एकाग्रताकी वृत्ति है। वृत्तिका अर्थ है व्यवहार।

निरुद्ध—मनकी समाधि। निरुद्ध मनमें भी भेद होता है। मूढ़ मन जड़से एक होकर बैठता है। निरुद्ध मन आत्मामें बैठता है। यह निरुद्ध मन भी पाँच प्रकारका होता है—१. वितर्कालम्बन, २. विचारालम्बन, ३. आनन्दालम्बन, ४. अस्मितालम्बन, ५. निरालम्बन।

स्थूल आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना वितर्कालम्बन है। सूक्ष्म आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना विचारालम्बन है। आनन्दके आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना आनन्दालम्बन है। गोलोक, बैकुण्ठका ध्यान-परमानन्दका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्द-ही-आनन्द—यह आनन्दालम्बन है। केवल 'अहं अहं'के आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना अस्मितालम्बन है। ये चारों सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत है। निरालम्बन चित्तका निरोध होना, असम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत आता है। वहाँ ज्ञाता-ज्ञेयका भेद ही नहीं फुर रहा है। इस निरालम्ब स्थितिके भी दो भेद हैं १. सविकल्प २. निर्विकल्प। विकल्प विद्यमान हो और चित्तवृत्ति निरुद्ध हो—सविकल्प। विकल्प मिट जायँ, चित्तवृत्ति निरुद्ध हो तो निर्विकल्प। निर्विकल्पके भी दो भेद हैं—सबीज और निर्बीज। समाधिसे उठनेका बीज हो तो सबीज और उत्थानका बीज ही न हो तो निर्बीज।

दृश्या धीवृत्तयः—इसमें देखो कि मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँचों चित्तकी वृत्तियाँ हैं और दृश्य हैं। इसके बाद स्थूलालम्बन, सूक्ष्मालम्बन, आनन्दालम्बन, अस्मितालम्बन और निरालम्ब ये भी पाँचों वृत्तियाँ हैं और दृश्य हैं। निरालम्बमें भी सविकल्प-निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज एवं कैवल्य अर्थात् आत्मदेवसे

पृथक् वृत्तिका सर्वथा नहीं भासना—ये सब-की-सब चित्तकी अवस्थाएँ दृश्य होती हैं—आने-जाने वाली होती हैं।

जैसे आप स्वप्न देखते हैं, वैसे जाग्रत्में बैठ जाइये और स्वप्नवत् वैकुण्ठको देखिये। वैकुण्ठका वैसे ही चिन्तन कीजिये। लीलावत् ध्यान होगा।

जैसे सुषुप्तिमें रहते हैं, वैसे जागते हुए सुषुप्तिका ध्यान कीजिये, समाधि हो जायगी। एक दिन मैं स्वप्नमें एक महात्माका दर्शन करने गया। पहले उसने बड़ा आदर किया। आसन पर बैठाया, फिर गिरा दिया। सिर दबाया। मैं बोला—'यह क्या करते हो ?'

वह—समाधि लगवाता हूँ।

मैंने कहा—'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ। समाधि मेरे भीतर बाधित है।'

वह—'फिर भी तमाशा देखनेमें हानि क्या है।'

स्वप्नमें समाधि लग गयी। जाग गया तो वे महात्माजी भी मिथ्या हो गये, वह समाधि भी मिथ्या हो गयी।

'दृश्या धीवृत्तयः'—वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. स्मृति, ५. निद्रा।

प्रमाण वृत्ति—जिससे हम वस्तुओंके होनेका निश्चय करते हैं। जैसे यह फूल सफेद है या लाल—यह निश्चय आँखोंसे देखकर होता है तो नेत्र वृत्ति प्रमाण है और पुष्प प्रमेय है। ऐसे ही कानसे शब्द, त्वचासे स्पर्श, जीभसे रस, नासिकासे गन्धका पता लगता है। यह प्रमाणवृत्ति कई प्रकारकी होती हैं, किन्तु प्रत्येक प्रमाणवृत्तिका फल वस्तुको अपरोक्षता होता है।

आप पहाड़में अग्निका अनुमान करें और वहाँ जानेपर अग्नि न मिले तो अनुमान झूठा है। इसी प्रकार उपमानके अनुसार वस्तु

एकाग्र—मनमें कई मिनट कोई वृत्ति उदय नहीं हुई, यह एकाग्रताकी वृत्ति है। वृत्तिका अर्थ है व्यवहार।

निरुद्ध—मनकी समाधि। निरुद्ध मनमें भी भेद होता है।

मूढ़ मन जड़से एक होकर बैठता है। निरुद्ध मन आत्मामें बैठता है। यह निरुद्ध मन भी पाँच प्रकारका होता है—१. वितर्कालम्बन, २. विचारालम्बन, ३. आनन्दालम्बन, ४. अस्मितालम्बन, ५. निरालम्बन।

स्थूल आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना वितर्कालम्बन है। सूक्ष्म आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना विचारालम्बन है। आनन्दके आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना आनन्दालम्बन है। गोलोक, बैकुण्ठका ध्यान-परमानन्दका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्द-ही-आनन्द—यह आनन्दालम्बन है। केवल 'अहं अहं'के आलम्बनसे चित्तका निरुद्ध होना अस्मितालम्बन है। ये चारों सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत है। निरालम्बन चित्तका निरोध होना, असम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत आता है। वहाँ ज्ञाता-ज्ञेयका भेद ही नहीं फुर रहा है। इस निरालम्ब स्थितिके भी दो भेद हैं १. सविकल्प २. निर्विकल्प। विकल्प विद्यमान हो और चित्तवृत्ति निरुद्ध हो—सविकल्प। विकल्प मिट जायँ, चित्तवृत्ति निरुद्ध हो तो निर्विकल्प। निर्विकल्पके भी दो भेद हैं—सबीज और निर्बीज। समाधिसे उठनेका बीज हो तो सबीज और उत्थानका बीज ही न हो तो निर्बीज।

दृश्या धीवृत्तयः—इसमें देखो कि मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँचों चित्तकी वृत्तियाँ हैं और दृश्य हैं। इसके बाद स्थूलालम्बन, सूक्ष्मालम्बन, आनन्दालम्बन, अस्मितालम्बन और निरालम्ब ये भी पाँचों वृत्तियाँ हैं और दृश्य हैं। निरालम्बमें भी सविकल्प-निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज एवं कैवल्य अर्थात् आत्मदेवसे

पृथक् वृत्तिका सर्वथा नहीं भासना—ये सब-की-सब चित्तकी अवस्थाएँ दृश्य होती हैं—आने-जाने वाली होती हैं।

जैसे आप स्वप्न देखते हैं, वैसे जाग्रत्में बैठ जाइये और स्वप्नवत् वैकुण्ठको देखिये। वैकुण्ठका वैसे ही चिन्तन कीजिये। लीलावत् ध्यान होगा।

जैसे सुषुप्तिमें रहते हैं, वैसे जागते हुए सुषुप्तिका ध्यान कीजिये, समाधि हो जायगी। एक दिन मैं स्वप्नमें एक महात्माका दर्शन करने गया। पहले उसने बड़ा आदर किया। आसन पर बैठाया, फिर गिरा दिया। सिर दबाया। मैं बोला—'यह क्या करते हो ?'

वह—समाधि लगवाता हूँ।

मैंने कहा—'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ। समाधि मेरे भीतर बाधित है।'

वह—'फिर भी तमाशा देखनेमें हानि क्या है।'

स्वप्नमें समाधि लग गयी। जाग गया तो वे महात्माजी भी मिथ्या हो गये, वह समाधि भी मिथ्या हो गयी।

'दृश्या धीवृत्तयः'—वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. स्मृति, ५. निद्रा।

प्रमाण वृत्ति—जिससे हम वस्तुओंके होनेका निश्चय करते हैं। जैसे यह फूल सफेद है या लाल—यह निश्चय आँखोंसे देखकर होता है तो नेत्र वृत्ति प्रमाण है और पुष्प प्रमेय है। ऐसे ही कानसे शब्द, त्वचासे स्पर्श, जीभसे रस, नासिकासे गन्धका पता लगता है। यह प्रमाणवृत्ति कई प्रकारकी होती हैं, किन्तु प्रत्येक प्रमाणवृत्तिका फल वस्तुकी अपरोक्षता होता है।

आप पहाड़में अग्निका अनुमान करें और वहाँ जानेपर अग्नि न मिले तो अनुमान झूठा है। इसी प्रकार उपमानके अनुसार वस्तु

न हो तो प्रमाण झूठा होता है। यदि वस्तुका अपरोक्ष न हो तो प्रमाण झूठा होता है। प्रमेयकी साक्षात् उपलब्धिमें जो हेतु होता है, उसीको प्रमाण कहते हैं। यदि वस्तु नहीं है तो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि झूठे हैं।

विपर्यय—कुछ-को-कुछ मान बैठना, जैसे रस्सीको अन्धकारमें सर्प मान लेना।

विकल्प—वस्तुके निर्माणमें सन्देह--यह रस्सी है या माला है?

स्मृति—पिछली बातोंकी याद।

निद्रा—सुषुप्ति भी वृत्ति है। यह भी व्यवहार है। नींद आयी और गयी। स्मृति आयी और गयी। विकल्प हुआ—मिट गया। विपर्यय हुआ—चला गया। प्रमाणवृत्ति हुई और नष्ट हो गयी। ये पाँचों मनोवृत्तियाँ हैं।

ये वृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। एक साधनमें बाधक, दूसरी साधनमें सहायक। जैसे शालग्राममें ईश्वर-बुद्धि साधनमें सहायक है। यद्यपि यह विपर्यय है; क्योंकि एक काली पत्थरकी बटिया ईश्वर नहीं हो सकती। लेकिन जब शालग्रामको सामने रखकर कहेंगे—'हे देव! तुमने सृष्टि बनायी। तुम सृष्टिके पालक हो। तुम्हीं सृष्टिका प्रलय करते हो। तुम सारी सृष्टिके आधार हो। तुम साक्षात् ईश्वर हो। तो इससे सृष्टि-कर्ता, पालक, संहार-कर्ता, सृष्टि-धारक ईश्वर निकलेगा। ईश्वरके विषयमें बुद्धि बढ़ानेसे शालग्राम-शिला ईश्वर-प्राप्तिमें सहायक है। अतः यह अक्लिष्ट विकल्प है।

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।

यह क्लिष्ट विपर्यय है अर्थात् यह विपर्यय क्लेश देनेवाला है। अन्तमें यह क्लेश देगा।

ये पाँचों प्रकारकी साधक और बाधक दोनों कोटिकी वृत्तियाँ दृश्य हैं। द्रष्टा इनसे न्यारा है।

दृश्या धीवृत्तयः—जो वृत्तियोंके द्वारा विषयका ज्ञान प्राप्त करता है, जिसमें त्रिपुटी होती है, उसे कहते हैं—ज्ञाता; परन्तु अपने जीवनमें एक समय ऐसा आता है, एक अवस्था ऐसी आती है, जब न विषयका भान होता है, न वृत्तिका। जब विषय और वृत्तिमें, दो नहीं रहीं तो त्रिपुटीमें-से केवल एक वस्तु रह गयी। उस वस्तुको प्रमाण और प्रमेयकी अपेक्षासे जो ज्ञाता कहते थे, उसीको अब ज्ञाता न कहकर द्रष्टा कहते हैं। सुषुप्ति और समाधिमें द्रष्टा है।

'तब जाग्रत्-स्वप्नमें भी द्रष्टा ही है?'

ठीक है; किन्तु जाग्रत्-स्वप्नमें तो तुम विषय, इन्द्रिय एवं वृत्तिसे अपना सम्बन्ध बना लेते हो और सुषुप्तिमें यह सम्बन्ध छूट जाता है। लेकिन सुषुप्तिमें सम्बन्धके छूट जानेपर भी अविद्या लगी रहती है। सुषुप्ति और समाधिमें किसीको ज्ञान नहीं होता। अज्ञानको निवृत्त करनेवाली वृत्तिके उदय होनेसे ही ज्ञान होता है। इसके लिए आप द्रष्टा और ज्ञाताका विवेक करो।

सुषुप्तिमें केवल द्रष्टा था और सम्पूर्ण दृश्य सन्मात्र द्रष्टामें ही लीन हो गया था। लेकिन उस समय यह अनुभव नहीं हुआ कि 'मैं ही सब हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। मैं ही अद्वितीय हूँ।' यह वृत्ति उदय न होनेसे जगे तो अविद्या साथ लगी आयी। इस अविद्याके कारण जाग्रत् और स्वप्नमें सोचा—'यह मेरा अन्तःकरण, ये मेरी इन्द्रियाँ, यह मेरा देह, यह मेरा परिवार, मैं पापी-पुण्यात्मा, मेरा सुख-दुःख, मैं सुखी-दुखी, मैं नारकी और स्वर्गी।' अतः विवेक करके अपनेको देखो।

देशमें पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर नहीं होता। कालमें संस्कार

नहीं होता। सतयुग, त्रेता, द्वापरादि सचमुच कालमें नहीं होता। मिट्टी, पानी, आगमें संस्कार नहीं होते। आगमें जलानेपर न अंगूर रहेगा न आम, केवल मिट्टी रहेगी। सत्तामें भी संस्कार नहीं होता। संस्कार हमारे मनमें जो मोह है, उससे—अविद्यासे उत्पन्न होता है।

आप द्रष्टा हैं—विषयके द्रष्टा, इन्द्रियोंके द्रष्टा, देहके द्रष्टा, मनकी वृत्तियोंके द्रष्टा, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके द्रष्टा। यह द्रष्टा समझानेके लिए है कि दृश्य भासे तब भी आप द्रष्टा हैं और न भासे तब भी आप द्रष्टा हैं। विषयके, वृत्तिके और त्रिपुटीके भानाभानमें आप द्रष्टा हैं।

इसमें सबसे मजेदार बात यह है कि जिसमें विषय और त्रिपुटीका भान है, उसीमें त्रिपुटीका अभान है। त्रिपुटीके भानाभानका जो अधिकरण है, उसीमें त्रिपुटीका भाव भास रहा है, अतः द्रष्टामें दृश्य नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। न देश है, न काल है, न वस्तु है, न प्रकार-भेद है, न करण है, न इदंता है। इसका अर्थ हुआ कि दृश्यके अभावका अधिकरण जो द्रष्टा है, उसीमें दृश्य भास रहा है। जो वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह मिथ्या होती है। अतः द्रष्टामें दृश्य ही नहीं है।

तब द्रष्टा और दृश्यका भेद करनेवाला कौन है ?

वस्तुतः द्रष्टा और दृष्टि दो नहीं हैं। भानात्मक ही द्रष्टा है और दृष्ट्यात्मक ही भान है। इसलिए भानस्वरूप जो दृक्तत्त्व है, यह देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित परिपूर्ण अविनाशी अद्वितीय चैतन्य ब्रह्म है। वह अपना आत्मा है।

कहो—'यह भी बोलनेकी बात नहीं है।'

तब जिज्ञासु ज्ञान प्राप्तिका ही निषेध करता है।

गुरु कहे—'हमने बोलकर तुमको समझाया है; परन्तु अब न बोलकर समझाते हैं; क्योंकि यह शब्दका विषय नहीं है।'

उपनिषत्में कथा है—वाष्कलिने प्रश्न किया, 'ब्रह्मका वर्णन कीजिये।'

ब्रवीहि भगवो ब्रह्मेति।
अवचनेनैव प्रोवाच।

गुरु चुप हो गये। एक बार पूछा, दो बार पूछा, तीन बार पूछा तो गुरु बोले—'अरे, ब्रह्मैव वदामि'—मैं न बोलकर ब्रह्मका ही वर्णन कर रहा हूँ।'

क्योंकि जिन शब्दोंके द्वारा अध्यारोप करके हमने ब्रह्मका वर्णन किया, उन शब्दोंका निषेध करनेके लिए—उन वृत्तियोंका निषेध करनेके लिए न बोलना भी एक प्रक्रिया है। लेकिन एक बार शब्दके द्वारा, वृत्तिके द्वारा परमात्माको समझाना पड़ता है।

ब्रह्म—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जाति नहीं। वह सफेद, लाल आदि गुण नहीं। उसके रसोई, ड्राइवरी आदि कर्म नहीं। शब्द वहाँ वर्णन करता है, जहाँ जाति हो, गुण हो, कर्म हो, सम्बन्ध हो या रूढ़ि हो। ब्रह्ममें तो यह कुछ नहीं है। अतः ब्रह्मका वर्णन संकेतसे करते-करते वहाँ पहुँचकर 'तत्त्वमसि' कहकर चुप हो जाना पड़ता है। जिज्ञासु अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जान लेता है। उसमें न कार्य है, न कारण, न तीन अवस्था जाग्रतादि हैं। न ज्ञातापना है, न द्रष्टापना।

'तदनन्यत्वं' उसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है।

दृश्या धीवृत्तयः—धत्तेति धीः—जो संस्कारोंको अपने भीतर धारण करती है, वह धी है। धारणात्मिका मेधा। जो याद रखती है—'कल मैंने यह देखा था, वहाँ मैंने यह देखा था, उनसे मैंने यह बात सुनी थी।' इस प्रकार देखे हुए स्थान, समय, वस्तु,

व्यक्ति, क्रियाको—उनके संस्कारको जो अपने भीतर रखती है वह धी है। इसमें समस्त स्मृति है। इसीमें-से सारी वृत्तियाँ निकलती हैं। यह दृश्य है अर्थात् देखी जाती हैं।

जैसे सूर्य, चन्द्र आदिका प्रकाश तो है, किन्तु उसमें चित्र नहीं दीखते, किन्तु सिनेमाघरके प्रकाशमें स्त्री-पुरुष, भवन-वन सब, दीखते हैं। सूर्यके प्रकाश और उस प्रकाशमें क्या अन्तर है ?

सूर्यके प्रकाशमें संस्कार डाले हुए नहीं हैं; किन्तु सिनेमा-घरका प्रकाश फिल्मके संस्कारोंको लेकर आता है। इसी प्रकार यह ज्ञान-स्वरूप द्रष्टा जब धी-वृत्तिके फिल्ममें-से निकलता है, तब वह आकार, प्रकार, क्रिया, जाति आदि जो धी-वृत्तिरूप फिल्म है, उसको लेकर आता है। इसीका नाम संसार है। धी वृत्तिको हटा दो तो सिनेमा-घरमें जड़ अधिष्ठान और प्रकाश पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु आत्मचैतन्यमें प्रकाश एवं अधिष्ठान दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है, द्रष्टा ताते भिन्न तहाँ है।
जहाँ होइ चेतन आधारा, तहाँ न द्रष्टा होवइ न्यारा ॥

—विचारसागर

जहाँ कपड़ेका पर्दा अधिष्ठान है, वहाँ प्रकाश उससे पृथक् है। जहाँ चेतन ही पर्दा है, चेतन ही स्वयं प्रकाश भी है।

एक बार विवेकके द्वारा अपनेको इस फिल्मसे अलग कर लो। यह फिल्म हृदयमें है। तुमसे ही यह प्रकाशित हो रही है। यह फिल्म कभी तुममें रहती है, कभी नहीं रहती है। अतः यह मिथ्या-भूत फिल्म ही मिथ्याभूत प्रपञ्चको दिखा रही है। यह द्रष्टा दृङ्मात्र परमात्मा है।

'दृश्या धीवृत्तयः'—आप कैसे देखते हैं, इसपर आपने कभी विचार किया है ? कई वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें आप इन्द्रियोंके द्वारा

ही देखते हैं। इन्द्रियोंके न होनेपर उन्हें सर्वदा देख नहीं सकते। यह जो आपकी दो हाथ, दो पैर, दो कान आदिसे युक्त आकृति है, इस आकृतिके कारण आपने अपनेमें जाति मान ली है कि 'मैं मनुष्य हूँ।' आपके हाथ काम करते हैं, पैर चलते हैं, जीभ बोलती है, मल-त्याग, मूत्र-त्याग होता है, इन पाँच कर्मेन्द्रियोंका अपनेमें आरोप करके आप कर्ता बनते हैं। इनके कर्मोंसे ही पाप-पुण्य होता है। जबतक आप अपनेको हाथ-पैरवाली आकृति नहीं मानेंगे, तबतक अपनेमें जाति नहीं मान सकते। द्रष्टामें जाति नहीं है। यदि द्रष्टा अपनेको हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे पृथक् करके देखे तो इन कर्मेन्द्रियोंसे हुआ कर्म द्रष्टाको छूते ही नहीं। आप द्रष्टा हैं तो न पापी हैं न पुण्यात्मा।

आप ज्ञानेन्द्रियों और मनको अपना मानकर भोक्ता बन बैठे हैं। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, त्वचा छूती है, नाक सूँघती है, जीभ स्वाद लेती है, मन अपनेमें सुख-दुःखका आश्रयत्व आरोपित करता है। सुख आत्माका स्वरूप है, अतः सुषुप्तिमें भी रहता है, परन्तु दुःख जाग्रत्-स्वप्नमें ही रहता है। आत्माकी उपस्थिति ही सुख है। आत्माका ज्ञान ही सुख है। दृश्य बदलते हैं, इन्द्रियाँ बदलती हैं, मन बदलता है, वृत्तियाँ बदलती हैं, स्थितियाँ बदलती हैं। इनमें एकको पकड़कर बैठोगे तो तुम्हें दुःख होगा। द्रष्टाका अर्थ है जातिसे असंग, कर्मसे असंग, भोगसे असंग, मानसिक भावनाओंसे असंग, विचारोंसे असंग, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे असंग, स्थिति-समाधिसे असंग, द्रष्टाका अर्थ ही है असंग।

असंगताके अर्थको भी जान लें—

वेदान्तमें मिथ्याभूत दृश्यसे असंगता है और योगमें सत्यभूत दृश्यसे असंगता है। सत्यभूत दृश्यमें जो सत्यत्व है वही राग-द्वेष उत्पन्न करता है।

दो वस्तुएँ भासती हैं—१. मैं, २. मैंसे भिन्न। मैं सर्वत्र, सर्वदा, सर्वावस्थामें भासता है और जो 'यह'के रूपमें भासता है, वह सर्वत्र नहीं भासता। सब रूपमें नहीं भासता। इसका अर्थ हुआ कि भासमानता दो प्रकारकी है—जगत्की भासमानता और आत्माकी भासमानता। आत्माकी भासमानता त्रिकालाबाधित, सत्य, नित्य है और अपने अतिरिक्त दूसरेकी भासमानता अनित्य, बाधित एवं असत्य है।

वेदान्तका इतना ही सार है कि जो कुछ मालूम पड़ता है 'मैं' और 'यह' इसमें 'मैं' पदका अर्थ सत्य है एवं 'यह' पदका अर्थ मिथ्या है। अतः द्रष्टा-दृश्यके विवेक द्वारा मिथ्याभूत दृश्यसे द्रष्टाका पृथक् होना द्रष्टाकी ब्रह्मता है।

साक्षी दृगेव—जो साक्षी है, वह केवल द्रष्टा ही है। साक्षात्-पश्यतीति साक्षी—जो साक्षात् देखता है, वह साक्षी। आँख, नाक, कान, त्वचा, जीभ, मन आदि किसी उपकरणसे नहीं—जो साक्षात् देखता है। जो अन्तःकरणके भावाभावको भी देखता है, वह साक्षी है।

हम घड़ी देख रहे हैं, यह क्या साक्षात् देख रहे हैं? इसमें नेत्र, मन, प्रकाश आदि कई वस्तुएँ बीचमें हैं। घड़ीके इस दीखनेमें कितना घड़ीमें-से आया, कितना प्रकाशमें-से, कितना मनसे, कितना अवकाशमें-से और कितना आँखमें-से आया?

स्वप्न-सुषुप्ति तथा मनोराज्य हम स्वयं देख लेते हैं। राग-द्वेष, सुख-दुःख हम स्वयं देख लेते हैं। ये स्वयं वेद्य हैं।

साक्षी साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्।

जहाँ हम बिना प्रकाश, बिना इन्द्रिय, बिना मनकी वृत्तिके देख सकते हैं, वहाँ साक्षात् देखते हैं।

सुषुप्तिमें सोते और स्वप्न तथा जाग्रत्में जागते मनको देखने-वाला मैं—यह 'मैं' कभी दृश्य नहीं होता।

साक्षी दृगेव—यह मनुष्य-शरीर केवल पुण्यका फल तो है नहीं। यह पाप-पुण्य दोनों प्रायः समान होनेपर मिलता है। अतः जो यह आग्रह कर लेता है कि 'हमारे जीवनमें केवल सुख-ही-सुख आना चाहिए, दुःख आना ही नहीं चाहिए' वह भूल कर बैठता है। जब कभी पुण्य-प्रारब्धका उदय होगा, तब सुख मिलेगा और जब कभी पाप-प्रारब्धका उदय होगा तब दुःख मिलेगा। अतः सुख-दुःख दोनोंको सहनेको तैयार रहना चाहिए।

न सुख टिकता है, न दुःख टिककर रहता है। जीवनमें सुखके कारण या दुःखके कारण जितने प्रत्याघात होते हैं, वे थोड़े दिनमें क्रमशः भूल जाते हैं। प्रत्याघातके समय लगता है कि अब हम इसे भूल नहीं सकते; किन्तु वह टिका नहीं करता। यह दोनों सुख-दुःख मनका नाटक है। जैसे लोग किसी अच्छे गायकके गानेपर अनजानमें ही ताल देने लगते हैं, वैसे ही हम नाटक करनेवाले मनके साथ इतने मिल जाते हैं कि उसीकी बातको अपनी-अपनी बात समझने लगते हैं।

दुःख आया, वह भी मिटेगा और सुख आया, वह भी मिटेगा, किन्तु अपने आप उसे मिटनेमें समय लगेगा। अब आप अपनेको मन-ही-मन दो-तीन वर्ष आगे कर लीजिये। उस समयका ध्यान करो तो यह मनका धारण किया वेष छूट जायगा। जो अवस्था स्वयं आगे आनेवाली है, उसे अभ्यासके द्वारा अभी प्राप्त कर लो।

क्या स्वप्नमें यह दृश्य—दुःख रहेगा? सुषुप्तिमें रहेगा? तब क्यों नहीं नेत्र बन्द करके एक बार जागतेमें ही स्वप्न देखना प्रारम्भ कर देते। इसीका नाम अभ्यास है। जबतक आप इस

शरीरके साथ मिलकर अपनेको शरीर मानोगे, तबतक दुःख नहीं मिटेगा। श्रुति कहती है—

न वै सशरीरस्य सतः दुःखापहतिरस्ति।

जो शरीरको 'मैं' कहेगा, वह शरीरको 'मैं' माननेवाला व्यक्ति दुःखसे मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ तो कभी ज्वर-जुकाम होगा, कभी कोई मरेगा, कोई कभी बिछुड़ेगा ?

यह शरीर कहाँसे आया ? यह धर्माधर्मसे आया है। जब अपनी और दूसरेकी भलाईका ध्यान रखकर काम करते हैं तो कर्म धर्म हो जाता है और जब स्वार्थवश दूसरेका अनभल करने लगते हैं, तब वह कर्म ही अधर्म बन जाता है। इसी कर्मसे यह शरीर बना है।

कर्म कहाँसे आया ? कर्म आया वासनासे।

वासना कहाँसे आयी ? संस्कारसे आयी।

संस्कार कहाँसे आया ? कर्तापनसे आया।

जब जान-बूझकर कर्म किया जाता है, तब उसका संस्कार पड़ता है। अनजानमें हुए कर्मका संस्कार नहीं पड़ता।

जानबूझकर मनुष्य कब कर्म करता है ? जब अपनेको कर्ता समझता है कि 'हमारे करनेसे सुख मिलेगा' या 'हमारे करनेसे दुःख मिटेगा।' अपने कर्तृत्वपर जब आस्था होती है, तब मनुष्य जानबूझकर कर्म करता है। 'हम यह करेंगे तो यह हो जायगा। यह संसारमें अदलने-बदलनेकी वासना कर्म कराती है। तुम दूसरेको सुधारनेमें विश्वास रखते हो, अपनेको सुधारनेमें विश्वास क्यों नहीं रखते ?

पामर पुरुष अपनेको और सबको भ्रष्ट समझता है। विषयी पुरुष सबको गलत समझता है, अपनेको ठीक समझता है। साधक अपनेको गलत समझता है—दूसरोंको नहीं। तत्त्वज्ञानी न अपनेको

गलत समझता है, न दूसरोंको। दूसरोंको गलत समझनेवाला न साधक है, न सिद्ध है। इसीसे निन्दा करनेवाला साधक नहीं हो सकता। निन्दक स्वयं कुसंगी है। वह अपना दिल बिगाड़े है और दूसरोंको कुसंग देता है—उनका दिल बिगाड़ता है।

सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कर्तापन है। 'हमारे किये यह होगा, वह होगा' इसमें न ब्रह्म-दृष्टि है, न ईश्वरपर दृष्टि है, न माया-दृष्टि है, न स्वभाव-दृष्टि है, न काल-दृष्टि है। यहाँ तो दृष्टि ही नहीं है—एकदम अन्धापन है।

लेकिन यह कर्तापन आता कहाँसे है? विचार करके देखो तो कर्तापन-भोक्तापनसे आता है कि 'हमको सुख मिलना ही चाहिए। हम करेंगे नहीं तो हमको सुख कैसे मिलेगा।' जितना कुछ करना पड़ता है वह भोगकी वासनासे ही करना पड़ता है। शास्त्रका सिद्धान्त है कि भोगका अर्थ नेत्रसे रूपका संयोग नहीं, विषयेन्द्रिय संयोगका नाम भोग नहीं है। भोग न शराबका होता है, न स्त्रीका, न मकानका न भोजनका। अपने चित्तमें जब अनुकूल और उल्लासात्मक वृत्तिका उदय होता है, तब उस मनका ही भोग होता है—भोग सुखाकार-वृत्तिका होता है। अतः धनीको भोग कम है और एक वैराग्यवानको भोग अधिक है। वह जंगलमें रहकर गो-लोकके मंगलका अनुभव कर सकता है। धनी महल एवं विलास-सामग्रियोंके मध्य रहकर अपने मनकी कड़वा-हटका भोग कर सकता है।

सुख वस्तुसे मिलता है—यह सोचना गलत है। सुख क्रियासे मिलता है—यह सोचना भी गलत है। भोग होता है अपनी ही सुखाकार-वृत्तिका। जितना भी सुख मिलता है, वह देहके बाहरसे नहीं मिलता, देहके भीतर मनमें मिलता है। जब भोगवासना-वासित मनुष्यको मालूम पड़ता है कि 'दही-बड़ा खानेमें सुख है,

कोका-कोला पीनेमें सुख है, कपड़ेमें सुख है, स्त्री-पुरुषमें सुख है जब उसे यह नहीं मालूम पड़ता कि पराधीनतामें दुःख है, तब वह अज्ञानमें होता है। अमुक प्रकारके भवन, भोजन, सामग्री, स्त्री-पुरुष, वस्त्रके बिना दुःख—यह अपनेको पराधीन बना देता है और अपनेको पराधीन—गुलाम बनाकर तुम सुखी रहना चाहते हो ? बाहरकी वस्तुओंसे सुखी होनेकी वासना ही तुमको दास—विवश बनाती है। इसी भोक्तापनेसे कर्तापन आया है।

साक्षी दृगेव—आपने अपनेको देह माना, इससे दुःखी हुए। आपने अपनेको कर्ता माना, दुःखी हुए।

कर्म कभी होता है, कभी नहीं होता। भोग कभी होता है, कभी नहीं होता। जो भोग और भोगके अभाव—दोनोंको देखने-वाला है, वह भोगके अभावसे उपलक्षित अभोग है। वह कर्म और कर्माभावसे उपलक्षित अकर्म है। वह अद्वितीय ब्रह्म है। वही आप हो।

शरीर होना चाहिए स्वस्थ; क्योंकि अस्वस्थ शरीर होनेपर यह नहीं सूझता है। मन होना चाहिए राग-द्वेष रहित। सत्संगमें बैठकर आप अपने शत्रुके विषयमें सोचोगे तो कोई बात समझमें नहीं आवेगी। मित्रके विषयमें सोचोगे तो भी कोई बात समझमें नहीं आवेगी। जिसके चित्तमें राग-द्वेष होता है, उसको वेदान्तकी बात समझमें नहीं आती। चरित्रवान् सद्भाव-सम्पन्न व्यक्ति, जिसकी बुद्धि कहे हुएको ग्रहण करती हो, वह व्यक्ति वेदान्त समझ पाता है। अतः देहमें स्वास्थ्य, मनमें सद्भाव और बुद्धिमें विवेक होना चाहिए।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

कठोपनिषद्

नाविरतो दुश्चरितात्—जिसने दुश्चरित्र नहीं छोड़ा, उसकी समझमें आत्मतत्त्व नहीं आसकता।

नाशान्तो—जिसके मनमें काम, क्रोध, लोभ है, अशान्ति है, वह इस तत्त्वको समझ नहीं सकता।

नासमाहितः—जिसके मनमें एकाग्रता नहीं है, मन चञ्चल है, उसकी समझमें भी यह तत्त्व नहीं आ सकता।

ना समाहितः—जो सन्तसे सिद्धि चाहता है या सन्तोंमें सिद्धि देखना चाहता है, उसकी समझमें भी वेदान्त नहीं आवेगा। सिद्धोंके पीछे भटकना जिज्ञासुका काम बिलकुल नहीं है। जिनका मन सिद्धियोंके पीछे भटक रहा है—'हम अमर हो जायँगे, हमारी बीमारी दूर हो जायगी, हमको बेटा मिल जायगा, हम मुकदमा जीत लेंगे, हमारा व्यापार बढ़ जायगा। इस प्रकारकी कामनाओंसे यदि तुम सन्तके पास जाते हो तो ईश्वरकी कृपासे वह कामना तुम्हें मिल भी सकती है; किन्तु तब वेदान्त-ज्ञान नहीं मिल सकता। जो शरीरको अमर बनाकर ज्ञान चाहते हैं, उनको वेदान्त-ज्ञान नहीं हो सकता।

भगवान्‌के दर्शनकी बात लें। ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हुए और ध्रुव मृत्युके सिरपर पैर रखकर ध्रुवलोक गये; किन्तु वे रोते हैं, झर-झर आँसू बहाते हैं कि 'हाय! हाय! मैंने राज्यकी कामनासे तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न किया। उनसे ज्ञान नहीं माँगा।'

महर्षि कर्दमने विवाहके लिए तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न किया। भगवान् आये तो कर्दमने उनसे प्रार्थना की—'मुझे एक समानशीला घरकी कामधेनु अर्थात् पत्नी चाहिए।'

भगवान्‌ने यह सुना तो उनके नेत्रोंसे दो बूंद आँसू टपक पड़े। ये अश्रुबिन्दु जहाँ गिरे, वहाँ सिद्धपुरमें बिन्दु-सरोवर है। गरुड़ने

इसे देखा। जब कर्दमजीको वरदान देकर भगवान् चले तो मार्गमें गरुड़ने पूछा—'प्रभु ! आज आपके नेत्रोंसे अश्रु क्यों गिरे ?'

भगवान्—'इसलिए गिरे कि हमारी आराधना करके, यह विवाह करना चाहता है। जिसपर मैं प्रसन्न हुआ, जिसे मैं दर्शन देने गया, वह मुझे नहीं चाहता—स्त्री चाहता है। उसकी दशा देखकर दया आयी।'

कर्दमने देख लिया था कि भगवान् आये तो विवाह कराके चले गये। फिर जब पुत्र-रूपमें भगवान् कपिल बनकर आये तो कर्दमने उनसे कह दिया—'आप अब घरमें रहो, हम संन्यास लेकर जाते हैं।'

जिसके मनमें सिद्धिके प्रति आस्था है, वह संसारी है। वह संसार चाहता है। जितनी भी सिद्धियाँ मिलती हैं, वे संसारमें सुख-सम्मान देनेके लिए होती हैं। संसारमें दुःख मिटाने-उत्कर्ष देनेके लिए होती हैं। अतः जबतक मनुष्य सिद्धि चाहता है, तब-तक वेदान्तका अधिकारी नहीं है।

अतः १. दुश्चरित छोड़ो, २. काम-क्रोध-लोभादि छोड़ो, ३. मन-को एकाग्र करो, ४. सिद्धियोंके पीछे मत भटको। इसके बाद वेदान्तके दरबारमें आओ।

'प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'—केवल प्रज्ञानसे, बुद्धि-बलसे ही यह कैसे मिलेगा ?

किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कैसे होता है, इसपर जो लोग विचार नहीं करते उनको परमात्माका साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? परमात्मा घड़ी या पुस्तक तो है ही नहीं कि नेत्रसे देख लोगे। किस इन्द्रियसे परमात्माकी पूर्णताका साक्षात्कार होगा ?

'परमात्मा पूरा नहीं दीखे, थोड़ा ही दीख जाय तो क्या हानि ?'

थोड़ा दीखेगा तो अज्ञान नहीं मिटेगा। थोड़ा-थोड़ा जगत्के रूपमें तो वह दीख ही रहा है।

तुम जो अपनेको कर्ता-भोक्ता मान बैठे हो, इससे तुम हो गये परिच्छिन्न। अब तुम परिच्छिन्न हो तो शेष क्या है ?

'हमको पता नहीं।'

जबतक यह 'पता नहीं' रहेगा, तबतक हृदयकी न जाननेकी वेदना मिट नहीं सकती। यदि तुम्हें न जाननेका दुःख कोई दुःख नहीं लगता तो तुम जिज्ञासु कहाँ हो ? अज्ञानके कारण जिसे वेदना होती है, वह जिज्ञासु है।

जिज्ञासुको परमात्माको ही जानना है। जहाँ वस्तु परोक्ष होती है, वहाँ वाक्यसे परोक्ष ज्ञान होता है। जैसे हमने कहा— 'योरोपमें एक टीटो नामके व्यक्ति हैं।' इससे आपको टीटोका साक्षात्कार नहीं हुआ। यहाँ आपको विश्वास करना होगा, कल्पना करनी होगी या अविश्वास करना होगा। लेकिन हम ऐसी वस्तु बतलाते हैं, जिसे आप और किसी दूसरी तरहसे जान ही नहीं सकते।

आपके मनमें क्या ब्रह्मत्वका संस्कार है ? परमात्मा कैसा है, यह आपके मनने कभी अनुभव किया है या बुद्धिने अनुभव किया है ? यदि अनुभव किया होता तो आप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मसे एक हो गये होते। ब्रह्म आपका पूर्वानुभूत नहीं है। अतः उसका कोई संस्कार नहीं है। इन्द्रियोंसे देखा न होनेके कारण वह अदृश्य है।

घड़ेको देखकर घटाकार-वृत्ति उदय होती है और घट-ज्ञान न हो तो पहचान करा देनेसे घटाकार-वृत्ति होती है; परन्तु

अपने आत्माको किसी भी इन्द्रियसे, मनसे, बुद्धिसे तो जाना नहीं जा सकता। आत्मा साक्षात् परोक्ष है। वह 'दृगेव न तु दृश्यते'— देखा नहीं जाता। उपनिषत्का कहना है कि यह अदृष्ट द्रष्टा है—'अदृष्टं द्रष्टृ' यह दीखनेवाला नहीं—देखनेवाला है।

प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा होता है। कल्पना या ध्यान परोक्षका किया जाता है। श्रद्धा या विश्वास स्वर्गके समान परोक्ष पर किया जाता है। आप स्वयं साक्षात् परोक्ष हैं। वेदान्त जो वात बतलाता है, वह आपके विषयमें ही बतलाता है। अतः उसका साक्षात् परोक्ष होता है।

द्रष्टा-दृश्य दोनोंका विवेक जीवनकी एक ऐसी विद्या है, जिससे सब दुःख मिट जाते हैं। जीवनका दुःख मिटानेके लिए सृष्टिमें ऐसी कोई दूसरी विद्या या कला नहीं है।

घड़ा कच्चा हो या पक्का, उसमें गंगाजल भरा हो या शराव, वह काला हो या लाल, वह तुम्हारा नहीं है और वह तुम नहीं हो। तुम उसके केवल साधारण दर्शक हो। उस घड़ेको हटाने, फोड़ने या बदलनेका न तुम्हारा कोई अधिकार है, न तुम्हें कोई आवश्यकता है। उसे जब तुम 'मैं-मेरा' मानोगे, तब दुःखी हो जाओगे। जब उसे 'मैं-मेरा' नहीं मानोगे तो सुखी हो जाओगे। द्रष्टा-दृश्य विवेकका इतना ही तात्पर्य है कि अपने भीतर बैठी अहंता-ममताको मिटाना है।

जैसे पैदल या मोटरसे चलते हैं तो मार्गमें बहुत-सी भूमि, मकान, मनुष्य पड़ते हैं; किन्तु हम उनको 'मैं-मेरा' नहीं समझते। अतः वे मनुष्य कहाँ जा रहे हैं, क्या कर रहे हैं, इससे हमको कोई कष्ट नहीं होता। वह भूमि किसकी है, उन मकानोंमें कौन रहते हैं, इससे हमें कोई मतलब नहीं। ऐसे ही यह संसार मार्गमें मिलने-

वाले खेत-मकानके समान हैं। इसमें 'मैं-मेरा' कुछ नहीं है। जितना दुःख है, सब 'मैं-मेरा'का है।

एक मनुष्यके पास एक घोड़ा था। घोड़ा भूखा हो तो दुःख, बिगड़ जाय तो दुःख, बीमार पड़े तो दुःख। एक दिन उसने घोड़ेको बेच दिया। अब वह घोड़ा दूसरेका हो गया। अब वह कभी पूछता ही नहीं कि घोड़ा बीमार है या अच्छा है, भूखा है या प्यासा है, मर गया या जीवित है; क्योंकि अब घोड़ा उसका नहीं रहा।

एक भूमि थी। मेरे पितामह उसे अपनी समझते थे। मेरे पिता भी अपनी समझते थे। मैं भी उसे अपनी समझता था। उस भूमिमें किसीका पशु चरने आजाय तो हमें दुःख होता था। भूमिमें खेती न हो, ठीक सिंचाई न हो, तो हमें दुःख होता था उसमें अच्छी फसल हो जाय तो प्रसन्नता होती थी। एक बार सरकारी जाँच-पड़ताल हुई। पता लगा कि वह भूमि हमारी है ही नहीं। मेरे पिता, पितामह और मैं भी झूठे ही उसे अपनी मानते रहे थे। हमारे विरोधीको अपनी भूमि भूल गयी थी। उसे पता नहीं था, अतः उसने छोड़ रखा था और हमने उसे अपनी मानकर उसपर अधिकार कर रखा था। जब कागजोंसे सिद्ध हो गया कि वह हमारी नहीं है तो ममता चली गयी।

इसी प्रकार यह शरीर और शरीरके सम्बन्धी भूलसे अपने माने हुए हैं। अविवेकसे, अज्ञानसे, मोहवश अपने माने हुए हैं। जब मालूम हो गया कि ये अपने नहीं हैं, तो इनका दुःख अपनेको क्या है!

जबतक मैं संन्यासी नहीं हुआ था, तबतक घर-परिवारमें पिता-पितामह आदि किसी सम्बन्धीके मरनेपर सूतक लगता था। हम लोग किसीको छूते नहीं थे। दाह-कर्म करनेके बाद अलग

तख्तेपर कम्बल बिछाकर सोते-बैठते थे। घरका भी कोई दूसरा आदमी दाह-कर्म करनेवालेको छूता नहीं था। अब संन्यासी हो गया तो कोई मरो, कोई पैदा हो, न जन्मनेका सूतक लगता है, न मरनेका पातक लगता। हम भी वही हैं और वे जन्मने-मरनेवाले लोग भी उसी कुलके हैं। यह सूतक-पातक कहाँसे आया था और कहाँ गया? संन्यासी हुए तो सम्बन्ध छूट गया। जैसे रजिस्ट्रीसे विवाह हुआ था, न्यायालयसे विवाह-विच्छेद हो गया। इसमें दु:खकी निवृत्ति हो जाती है। संसारके जितने भी दु:ख हैं, वे 'मैं' और 'मेरा' इस मान्यतामें-से निकलते हैं।

वाराणसीमें मणिकर्णिका घाटपर चौबीस घण्टेमें ऐसा कोई समय नहीं होता जब वहाँ मुर्दा न जल रहा हो। हम ऐसे स्थान पर बैठते थे जहाँसे चिताएँ जलती दीखती थीं। कभी दु:ख नहीं होता था। लेकिन जिस दिन दीख जाय कि इस मुर्देके साथ हमारे परिचित-मित्र-परिवारके लोग आये हैं, तो पूछता—'कौन है?' पता लगता कि अमुक सम्बन्धी हैं, तब दु:ख होता—'हाय-हाय, ये तो बहुत भले आदमी थे—मर गये!'

प्रकृति कभी किसीको दु:ख नहीं देती। इसमें जो 'मैं-मेरे'-पनका सम्बन्ध है, वह दु:ख देता है। ईश्वर कभी किसीको दु:ख नहीं देता। ईश्वर परमानन्दस्वरूप है। ईश्वरके द्वारा दु:खदायी कर्म हो ही नहीं सकते। ईश्वर-सृष्टिमें दु:ख नहीं है। दु:ख जीवकी सृष्टि है। अविवेकके कारण जीव अपने लिए दु:ख बना लेता है। दु:ख अपनी नासमझीसे बना है। जो दु:खी है, वह अज्ञानी भी है। जो अज्ञानी है, वह दु:खी है, वह मृत्युके भयसे ग्रस्त भी है। अपनेको जो सच्चिदानन्द जानता है, उसे मृत्युका भय, अज्ञानका भय और दु:ख नहीं हो सकता।

परमानन्द स्वरूप तू, नहिं तोमे दु:ख लेश।

अतः द्रष्टा-दृश्यका विवेक आपके सारे दुःखोंको मिटा देनेवाली रामवाण औषधि है।

वस्तुसे सुखी होनेकी कल्पना, अर्थसे सुखी होनेकी कल्पना है। भोगसे सुखी होनेकी कल्पना, कामसे सुखी होनेकी कल्पना है। कर्मसे सुखी होनेकी कल्पना, धर्मसे सुखी होनेकी कल्पना है। यही अर्थ, काम, धर्म पुरुषार्थ कहे जाते हैं।

द्रष्टा-दृश्यका विवेक अर्थ, धर्म, काममें-से किसीको छुड़ाता नहीं है। यह न अर्थको मिटाता, न कर्मको छुड़ाता, न भोगका शत्रु है। यह विवेक केवल अज्ञानका—नासमझीका शत्रु है।

मैं संन्यासी होनेसे पहले समझता था—'मैं संन्यासी हो जाऊँगा तो अमुक-अमुक जो मेरे आश्रित हैं, दुःखी हो जायँगे।' लेकिन जबतक मैं समझता था—अमुक-अमुकके पालन-पोषणका दायित्व मुझपर है, तबतक सव लोग चुप-चाप बैठे थे। जिस दिन मैंने अपना दायित्व छोड़ दिया, उस दिन बहुत अधिक लोगोंकी दृष्टि गयी कि 'इनका पालन-पोषण हमारा कर्तव्य है।' जबतक मैं अपना दायित्व लिये बैठा था, तबतक मुझे दो-दो, पाँच-पाँच रुपये उनके पालन-पोषणके लिए लाने पड़ते थे। मैंने जिस दिन जिम्मेवारी छोड़ दी, उस समय मेरे गृहस्थाश्रमके जो पचासों गाँवोंमें शिष्य हैं, उनको लगा—'गुरुजी तो चले गये। अब उनकी पत्नी-बच्चोंका कौन ध्यान रखेगा।' अतः जो समझते हैं कि सब कुछ हमीं करते हैं, उनकी समझ ठीक नहीं है। एक व्यक्ति जब अपना दायित्व छोड़ देता है, तो वह दायित्व सम्पूर्ण समष्टि ले लेती है। वस्तुतः सम्बन्ध ही लोगोंको सुखसे वञ्चित किये हैं।

कुछ लोग न कुछ करना चाहते न कुछ भोगना चाहते। उन्हें केवल 'हाय-पैसा, हाय-पैसा' लगा है। कुछ लोग धन और भोग दोनों चाहते हैं। बिना कमाये धन चाहना निकम्मापन है। प्रत्येक

योग्य सन्तानको चाहिए कि पितासे कह दे—'आप अपना इकट्ठा किया पूरा धन स्वयं खर्च कर दें। मेरा भी प्रारब्ध है, मुझे भी भगवान्‌ने दो हाथ दिये हैं। अपने लिए मैं स्वयं कमा लूँगा।'

पिताका धन लेना भी वस्तुतः प्रतिग्रह लेना ही है। स्वयं कमाकर खानेकी रुचि अर्थ चाहना है और अर्थके साथ कर्म चाहना है।

जो भोग भी नहीं करते और धर्म भी नहीं करते, वे तो पशु हैं। जो कर्म करते हैं और अर्थ कमाते हैं, उनमें तमोगुणकी मात्रा कम है, रजोगुणकी मात्रा अधिक है। जो भोगसे सुख भी ले पाते हैं, उनका रजोगुण किञ्चित् सत्त्वगुणकी ओर उन्मुख है; क्योंकि सत्त्वगुणके बिना कोई सुखी नहीं हो सकता, चाहे कितना भी कर्म करे और कितना भी भोग करे।

चौथी वस्तु है असंगता। अपनेको कर्म और भोगमें फँसाओ मत। धन आता है और जाता है। तुम एक सरीखे रहते हो। कर्म होता है और नहीं होता, तुम एकसे रहते हो। भोग मिलता है और नहीं मिलता, तुम एक जैसे रहते हो।

पहले महात्मा कहते थे—'जैसे सरायमें रहते हो—जितना पैसा जमा है, उतने ही दिन पलंग-भोजन मिलता है। बस, संसार इतना ही है। सरायके जीवनमें फँसना नहीं चाहिए। यहाँ किसीको रहना नहीं है। सबको एक दिन जाना है।

रहना नहिं देस बिराना है।

धनको, भोगको रथके पहियेके समान आने-जाने दो। तुम उसके आने-जानेका सिनेमा देखो। यह द्रष्टा-दृश्य विवेक है। इसमें सच्चा-झूठेका विवेक करनेकी भी जरूरत नहीं है।

हम नाटक देखते हों या सिनेमा—नाटकमें नट-नटी रंगमंच-पर आकर नाचते हैं; सिनेमामें पर्देपर केवल नट-नटीका चित्र

दीखता है; लेकिन चाहे नट-नटी स्वयं नाचते हों या उनका चित्र दीखता हो, तुम तो देखनेवाले हो। भले नाटकमें तुम्हारे आँसू उसे देखते-देखते गिरें, परन्तु जब बाहर आओगे तो कहोगे—'बड़ा मजा आया।' संसार नाटक है या सिनेमा झूठा है या सच्चा, यह निर्णय पीछे करना, पहिले यह समझ लो कि इसमें तुम केवल द्रष्टा हो। इतनेसे तुम्हारे सब दुःख मिट जायँगे। यह असंगताकी विद्या है। इससे तुम प्रत्येक दशामें सुखी रहना सीखोगे। चाहे परिस्थिति तुम्हारे अनुकूल हो या प्रतिकूल।

असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।—गीता

जब तुम चाहते हो कि सब कुछ हमारे ही मनके अनुसार हो, तब तुम संगमें फँस गये। तब तुमको दुःख होगा। जो कुछ होता है उसमें कहो—ऐसा नहीं तो ऐसा सही।

द्रष्टाका अभिप्राय हैकि तुम अपने आत्मस्वरूपमें बैठ जाओ और तुम्हारे सामने जो नाटक हो रहा है, जो स्वप्न दीख रहा है, जो सिनेमा हो रहा है, जो मायाके खेल दीख रहे हैं, जो ईश्वरकी लीला दीख रही हैं, उसमें तुम कर्ता-भोक्ता मत बनो। उसे केवल देख लो।

सृष्टिमें जो रूप दीख रहा है, वह भी एक तमाशा है। नेत्र भी एक तमाशा है। मनमें जो वृत्तियाँ बदलती हैं—सोती-जागती हैं, वह भी एक तमाशा है। अर्थमें जड़ता है। कर्ममें श्रम है। भोगमें दासता है। द्रष्टामें स्वतन्त्रता है।

जहाँ पैसेके आने-जानेसे गर्मी नहीं पहुँचती, जहाँ कर्मके करने, न करनेसे पसीना नहीं होता, जहाँ भोगके मिलने, न मिलनेसे हास्य और रुदनकी सृष्टि नहीं होती, उसका नाम द्रष्टा है। वह हो तुम।

यह असंगताकी विद्या है और विद्या वह होती है, जो अपने आप नहीं आती, सिखलानेपर आती है। कोई भी बिना सिखलाये न सन्ध्या कर सकता, न सूर्यको अर्घ्य दे सकता। राग-द्वेष, इन्द्रिय-प्रवृत्ति बिना सिखलाये आती हैं; किन्तु जितनी धर्मकी बात है, जितनी ज्ञानकी बात है, जितनी हमारे दुःखको मिटानेकी बात है, उसका शिक्षण प्राप्त करना पड़ता है। अतः यह असंगताकी विद्या भी गुरुसे सीखनी पड़ती है।

आप वस्तु रखनेके अधिकारी कब होते हैं? जब उसके छूटने-पर आपको दुःख न हो। आप कर्म करनेके अधिकारी कब होते हैं? जब आप कर्म छोड़कर विश्राम कर सकें। आप भोग करनेके अधिकारी कब होते हैं, जब आप बिना भोगके भी रह सकें। यदि आप भोगके बिना नहीं रह सकते तो आप भोग नहीं कर रहे हैं। अपने लिए बन्धन तैयार कर रहे हैं।

साक्षी दृगेव—मनकी सभी वृत्तियाँ देखी जाती हैं—आप साक्षी हैं। आत्मा द्रष्टा है, इसका अर्थ है कि आत्मा निष्पक्ष है। आत्मा साक्षी है, इसका अर्थ है कि आत्मा असंग—राग-द्वेष-रहित है। आत्मा कूटस्थ है, इसका अर्थ है कि जन्म-मृत्युका, किसीके आने-जानेका इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

'न तु दृश्यते'—अपने आपको देखा नहीं जाता। साक्षी भास्य भी नहीं है। जो सबका द्रष्टा; किन्तु स्वयं अदृष्ट आत्म-स्वरूप है, वह साक्षी है। जो अनेकताका, परिच्छेदका, जड़ताका, नाशवान्‌का भी द्रष्टा है, वह आप्य, उत्पाद्य, संकार्य, विकार्य, विनाश्य, आदिका साक्षी है। वेदान्त-सम्प्रदायके परमाचार्य श्रीगौड़पाद कहते हैं—

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनायं प्रकाशते॥

जिस-जिसका व्याख्यान हो—'यह है, यह है। उस सबका

निषेध कर दिया—यही अजन्मा आत्मदेव अग्राह्य भावसे प्रकाशित हो रहा है।

यदि कोई कहे—'विज्ञान आत्माको पकड़ चुका और उसकी गोली बनायेगा' तो विज्ञानके अन्धश्रद्धालु हिप्नोटाइज्ड हो जाते हैं। जो दृश्य होगा, वह दृक् कैसे और द्रष्टा ही कैसे हो सकता है ?

एकने हरिद्वारमें कहा—'हमलोग अब मनुष्यका दिल बदल देते हैं, तब आपका हृदय कहाँ रहता है ?

मैंने पूछा—'जिसका दिल बदला जाता है, क्या उसकी स्मृति, भावनाएँ और शिक्षा बदल जाती है ? जिसका दिल लगाया गया क्या उसकी भावना, शिक्षा उस व्यक्तिमें आजाती है ?

वह—'नहीं, ऐसा नहीं होता।'

तब तुम केवल कलेजा बदलते हो, हृदय नहीं। कलेजेकी स्थूल थैलीमें भावनाएँ, स्मृति और ज्ञान नहीं रहते। ये चेतना, स्मृतियाँ आदि तो वीर्यमें भी होती हैं और बालकमें आती हैं। ये स्मृतियाँ आदि कभी रहती हैं—कभी नहीं रहतीं; परन्तु यह जो दृङ्मात्र है, उसमें देखनेवाले और देखे जानेवालेका भेद नहीं है। वह दृश्य कभी नहीं होगा। आप कभी हिप्नोटाइज्ड मत होना कि यह द्रष्टा यन्त्रकी पकड़में आयेगा। सृष्टिमें इसकी सृष्टि नहीं होती। प्रलयसे इसका प्रलय नहीं होता। शरीरके जन्मसे इसका जन्म नहीं होता। शरीरके मरनेसे यह मरता नहीं। अन्तःकरणके स्वर्ग या नरकमें जानेसे यह स्वर्ग या नरक नहीं जाता (यह स्वयं-प्रकाश ज्ञानस्वरूप ज्यों-का-त्यों रहता है।

'न तु दृश्यते'—दृशि गोचरतां न आपद्यते—वह किसीका दृश्य नहीं होता। वह दृश्य होगा तो एक उसका द्रष्टा हो जायगा। दृश्य-द्रष्टाका दर्शन द्वैत-दर्शन है। दृश्य मिथ्या, द्रष्टा सत्य। द्रष्टामें जो

भेद प्रतीत होता है, वह दृश्यकी उपाधिसे प्रतीत होता है। मिथ्या दृश्योपाधिक भेद द्रष्टाको भिन्न-भिन्न नहीं कर सकता।

द्रष्टा-दृश्यका विवेक करो तो यह भी देखो कि दृश्य कब है, कहाँ है, क्या है? द्रष्टासे पृथक् दृश्यकी एक आयु बनी है। द्रष्टासे पृथक् दृश्यका एक कल्पित स्थान बना है। द्रष्टासे पृथक् एक वस्तु है जिसके रूपमें दृश्य है। यह केवल भ्रम है। द्रष्टाकी दृष्टिके अतिरिक्त दृश्यका न कोई निवास-स्थान है, न आयु है, न रूप है।

समष्टि ईश्वर, समष्टि प्रकृति, समष्टि बीज, समष्टि काल—सब द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। इनका भावाभाव दोनों द्रष्टाकी दृष्टिमें हैं। मिथ्याभूत दृश्योपहित दृष्टिका द्रष्टा होनेके कारण मिथ्योपाधि बाधित है—भासमान होनेपर भी बाधित है। अतः यह द्रष्टा महावाक्यके द्वारा बोधित 'तत्' है।

● **संगति**

द्रष्टाके स्वरूपको समझो और अपनेको दृश्य मत समझो, यह बात समझानेके लिए पहले श्लोकमें जो कुछ कहा गया—वह चार भागोंमें बाँटा है—१. रूपं दृश्यं लोचनं दृक्, २. तद् दृश्यं दृक् मानसम्, ३. दृश्या धीवृत्तयः ४. साक्षी दृगेव न तु दृश्यते।

इन चारों अंशोंको आगे क्रमशः चार श्लोकोंमें समझाया गया है। दूसरे श्लोकमें 'रूपं दृश्यं लोचनं दृक्' इस पहले भागको समझाते हैं—

नील-पीत-स्थूल-सूक्ष्म-ह्रस्व-दीर्घादिभेदतः।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा॥२॥

नीले-पीले, स्थूल-सूक्ष्म, छोटे-बड़ेके भेदसे रूप तो अनेक प्रकारके हैं; किन्तु एक समान रहते नेत्र उन्हें देखते हैं।

नीला होना, पीला होना, मोटा होना, पतला होना, छोटा

होना—लम्बा होना, ये सब रूपके भेद हैं। रूप अनेक प्रकारके होते हैं और उन्हें एक ही आँख देखती है।

इसका अर्थ हुआ—रूप अनेक हैं, नेत्रदृष्टि एक है। एक नेत्र-दृष्टिसे अनेक रूप दिखलाई पड़ते हैं। अनेक रूप बाहर हैं, नेत्रदृष्टि अपने भीतर है।

पहले यह समझो कि रूप पृथक् है, नेत्रदृष्टि पृथक् है। यह विवेकका पहला आलम्बन है।

• संगति

जैसे आपको भगवान्का ध्यान करना है। इसमें वस्तु और क्रिया दोनों आलम्बन होंगे और आप भीतर ध्यान करेंगे।

भगवान्की मूर्ति रख ली, यह आलम्बन हुआ। उनको वस्त्रा-भरण पहनाये, चन्दन-माला धारण करायी, यह क्रिया है। इसके द्वारा भाव बना कि हम भगवान्की पूजा कर रहे हैं। मूर्ति और क्रिया आलम्बन हैं और भगवान्का चिन्तन उसका फल है। आलम्बन लिये बिना भगवान्की ओर बढ़ा नहीं जा सकता। ईश्वरसे प्रेम न हो, उसकी प्यास न हो तभी वस्तु और क्रियाका आलम्बन छूटता है।

कोई आपसे मन्त्र-जप, मूर्ति-पूजा छुड़वा सकता है; परन्तु आपका जो स्त्री-पुत्रमें, धन-भवनमें लगाव है, उसे नहीं छुड़ा सकता। तब आपका संसार तो बना रहेगा और ईश्वरकी ओर चलनेको जो सीढ़ी थी उसे आपने छोड़ दिया। फलतः आप जहाँके तहाँ बने रहेंगे। बिना आलम्बनके भाव नहीं टिकता। यह बात 'तत्' पदार्थ—ईश्वरके विषयमें है। 'त्वं' पदार्थका विवेक करनेके लिए भी आलम्बन चाहिए। सचमुच शरीरमें कोई अन्नमय, प्राण-मय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश नहीं है। ये

आलम्बन हैं। बाहरसे भीतर जानेके लिए पहला आलम्बन अन्न-मयकोश है।

'मैं यह स्त्रीरूप, पुत्ररूप, धनरूप, भवनरूप नहीं हूँ। यह जो अन्नमय देह है, वह मैं हूँ।' इसको छोड़कर दूसरा आलम्बन प्राण-मयकोश है।

'मैं यह हड्डी-मांसका शरीर नहीं हूँ। इसमें क्रिया न हो तो यह मुर्दा है। यह क्रियाशक्ति—प्राण मैं हूँ।'

'इच्छा न हो तो श्वास चलनेका क्या अर्थ? अतः मैं इच्छा करनेवाला मनोमय कोशसे उपहित आत्मा हूँ।'

'ज्ञान न हो तो इच्छा क्या करेगी? तब मैं विज्ञानमय आत्मा हूँ।'

'आनन्द न हो तो विज्ञानसे लाभ? तब मैं आनन्दमय आत्मा हूँ।'

'नहीं—मैं आनन्दमय आत्मा नहीं, साक्षी हूँ।'

जैसे साकार राम-कृष्णादि और नर्मदेश्वर-शालग्रामादि तथा हृदयमें ध्येय मूर्तिके द्वारा अन्ततोगत्वा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्विकार, एकरस, सर्वाधार, सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रेरक, सर्वान्तर्यामी प्रभृति गुणोंसे उपलक्षित परमेश्वर है, ऐसा जाना जाता है, इसी प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयसे उपलक्षित आत्माको जाना जाता है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—अवस्थाएँ 'त्वं' पदार्थके विचारके आलम्बन हैं। जैसे भावके आलम्बन मूर्ति, मन्त्र, माला, पूजादि हैं।

जाग्रदवस्थामें मैं विश्व हूँ। स्वप्नावस्थामें मैं तैजस हूँ। सुषुप्तिमें मैं प्राज्ञ हूँ। अवस्था तीन होनेपर भी मैं एक हूँ। मेरे ये तीन नाम आलम्बनके लिए रखे हैं। मैं निरालम्ब चैतन्य हूँ। यहाँ 'त्वं' पदार्थके विचारका आलम्बन है।

दृग्-दृश्यका विवेक भी 'त्वं' पदार्थके विचारका आलम्बन है। इसमें पहला आलम्बन है नेत्र और रूप अर्थात् इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय। अब आगे दूसरा आलम्बन है—

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा।
संकल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम् ॥३॥

अन्धापन, मन्दपना, पूर्णदृष्टि आदि नेत्रोंके अनेक धर्मोंको एक मन ही जानता है। ऐसे ही त्वचा, कर्ण आदिके साथ भी समझ लो।

आँख किसीकी अन्धी होती है, किसीकी मन्द होती है, किसीकी पटु होती है। नेत्र भी अनेक प्रकारके हैं, तिरछी या सीधी आँख होती है। नेत्रमें याचना, प्रेम, तर्जन, रोष, काम, शोक आदि अनेक भाव होते हैं। नेत्रके इन सब भेदोंको मन देखता है, अर्थात् मनके साथ मैं देखता हूँ।

इन्द्रियोंके साथ बैठकर मैं बाहरकी वस्तुओंको देखता हूँ और मनके साथ बैठकर मैं इन्द्रियोंको देखता हूँ—'मेरा कान कुछ कम सुनता है। मेरे कान तेज हैं। मेरी त्वचा स्पर्श कम बतलाती है या त्वचा बहुत सूक्ष्म स्पर्श भी बतला देती है।' मेरे शरीरपर मक्खी बैठे तो पहले पता ही नहीं चलता था। किसी-किसीकी नाक दूरकी गन्ध सूँघ लेती है।

ये इन्द्रियाँ किसीकी तीव्र होती हैं, किसीकी मन्द; परन्तु सबके भीतर मन एक ही होता है।

'त्वगादौ युज्यतां'—कान, त्वचा, जीभ, नाक ये अलग-अलग हैं, अलग-अलग अपने विषयोंको देखती हैं परन्तु मन एक है।

'इदं योज्यताम्'—हमने यह सब समझ लिया, परन्तु श्रोताको जोड़ लेना चाहिए। जैसे गणितका कोई प्रश्न था। उसका हमने

सीधा हल बतला दिया। तुमने उसे स्मरण कर लिया तो तुम्हें गणित नहीं आया। तुम्हें स्वयं यह विचार करना पड़ेगा कि इन संख्याओंका जोड़, गुणा या भाग इतना कैसे हुआ?' जब तुम स्वयं उस ढंगको समझोगे तब गणित आवेगा। एकका किया विवेक दूसरेके काम नहीं आता। 'युज्यतामिदम्' अर्थात् तुम स्वयं इसको जोड़ो। यह विवेक स्वयं करो।

● **संगति**—विषयोंके घेरेको तुम इन्द्रियोंके घेरेमें बैठकर देखते हो। इन्द्रियोंके घेरेको मनके घेरेमें बैठकर देखते हो। अब तीसरा आलम्बन बतलाते हैं—

कामः संकल्पसन्देहौ श्रद्धाऽश्रद्धे धृतीतरे।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयेदेकधा चितिः॥४॥

काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, धी, भय इत्यादि मनके धर्मोंको एक ही चिति प्रकाशित करती है।

कामः—अगले क्षण ऐसा हो, अगले पदपर ऐसा हो, सामनेवाली वस्तु ऐसी हो, यह सब चाहना काम ही है। 'अगले क्षण ऐसा हो'का अर्थ है कि आपका मन वर्तमानमें सन्तुष्ट नहीं है, भविष्यमें सन्तोष करना चाहता है। आपका मन हृदयसे निकलकर नेत्रमें क्यों आता है? नेत्र जैसे अपने गोलकमें रहें, बाहरकी वस्तु न देखें, वैसे ही मन अपने गोलकमें रहे, बाहरकी वस्तुओंमें न जाय, यह मनकी एकाग्रता है।

अगले क्षणमें क्या होगा, अगले पदपर क्या मिलेगा, बाहरकी वस्तुएँ कैसी रहेंगी, इस विषयमें सोचना-संकल्प करना बन्द कर दो। दूसरेको बदलनेमें रुचि मत लो। जब हो, जहाँ हो, जो हो—वहीं बैठ जाओ तो निष्काम हो। अन्यथा काम ही भटकाता है। काम मनमें रहता है।

संकल्प—सम्यक्त्वकी कल्पना। जब कोई वस्तु हमें दीखती

है, तो कल्पना होती है–'यह अच्छी है या यह बुरी है' यह कल्पना मनमें होती है।

सन्देहः—शंका होती है। शं=शान्तिको जो काट दे उसे कहते हैं शंका। जिसके मनमें शंका रहेगी, उसे शान्ति कभी नहीं मिलेगी।

मुझे बचपनमें एक महात्माने बतलाया था—'सामनेवाला बुरा है, इससे कोई मतलब नहीं। लेकिन उसकी बुराईके प्रति जो शंका है वह तुम्हें दुःख दे रही है।

श्रद्धा-अश्रद्धा—कभी श्रद्धा होती है, कभी अश्रद्धा। अश्रद्धा रूक्षता है। श्रद्धा-अश्रद्धा दोनों मनका स्वभाव है।

धृतीतरे—कभी धैर्य रहता है, कभी नहीं रहता। यह संसार-का स्वभाव ही है। जैसे समुद्रमें लहरें आती-जाती हैं, जैसे सूर्यसे किरणें निकलती, फैलती, सिमटती हैं, जैसे चाँदनी बरसती है या नहीं बरसती, जैसे वायु तीव्र या मन्द चलती है, जैसे गर्मी अधिक या कम पड़ती है, ऐसे ही अपना मन भी बदलता रहता है। कभी पाँच हजार रुपया चला जाय तो तनिक भी दुःख नहीं होगा और कभी पाँच पैसा खोनेपर भी दुःख होगा। कभी कोई सौ गाली दे तो भी दुःख नहीं होगा और कभी कोई आँख टेढ़ी कर दे तो भी दुःख होगा। दुःख बाहरसे नहीं आता। अपने भीतरसे दुःख निकलता है।

धैर्य-अधैर्य, ह्री-धी—कभी लज्जा आती है, कभी नहीं आती। कभी धारण-शक्ति बनी रहती है, एकबार कोई बात सुनी और याद हो गयी और कभी दस-बीस बार सुनकर भी याद नहीं होती। कभी बिना मतलब भय आता है।

आभूषण किसका है ? सोनेसे बना है तो सोनेका और चाँदीसे

बना है तो चाँदीका। हमारे मनमें जो शत्रुता, क्रोध, द्वेष, राग आता है—ये सब आभूषण हैं। ये बने किससे—किस उपादानसे ? इनका उपादान मन है। जैसे गन्नेका मीठा रस और करैलेका कड़वा रस अपने उपादानमें-से आया है ऐसे ही मनमें आनेवाली बातें भीतरसे निकलती हैं।

भय, धारणा-शक्ति, लज्जा, धैर्य, अधैर्य, श्रद्धा, अश्रद्धा, सन्देह संकल्प, काम—मनमें ये नाना प्रकारकी वृत्तियाँ आती हैं। संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान ये सब मनमें आते ही रहते हैं; किन्तु चेतनस्वरूप हम इनको देखते हैं। एक ही द्रष्टा मनके सब रूपोंको प्रकाशित करता है।

संगति—'रूपं दृश्यं लोचनं दृक्'का स्पष्टीकरण 'नीलपीतादि' दूसरेमें श्लोक, 'तद् दृश्यं दृक् तु मानसं'का 'आन्ध्यमान्द्यपटुत्वे' तीसरे श्लोकमें, 'दृश्या धीवृत्तयः'का चौथे श्लोक 'कामः संकल्प सन्देहः'में किया। अब 'साक्षी दृगेव न तु दृश्यते'को पाँचवें श्लोकमें स्पष्ट करते हैं कि साक्षी द्रष्टा ही रहता है, कभी दृश्य नहीं होता।

द्रष्टा 'अन्वागतः पापेन अनन्वागतः पुण्येन' पाप-वासना आती है, चली जाती है, पुण्यवासना आती है, चली जाती है, वह पापके साथ आता नहीं, पुण्यके साथ जाता नहीं। मनमें कभी सुख-वासना आती है—कभी दुःख-वासना। हम अपनेको कभी सुखी मानते हैं, कभी दुःखी। जितना दृश्य दीखता है, द्रष्टाको दीखता है।

प्रश्न है कि द्रष्टा अन्तःकरणको साथ लिये बिना देखता है या साथ लेकर देखता है ? अन्तःकरणको हम अपनेसे पृथक् कैसे करें ?

जैसे घड़ीको, कपड़ेको, मालाको उतारकर अलग रखा जा सकता है, वैसे अन्तःकरणको अलग नहीं रखा जा सकता। जब

आपके हिसाबमें कभी गड़बड़ी होती है तो आप जैसे पैसा फेंके बिना उचन्त खातेमें वह रकम डालकर हिसाब पूरा कर लेते हैं ऐसे ही आप इन्द्रियों और अन्तःकरणको एकबार विचारके हिसाब-किताबमें उचन्त खातेमें डाल दीजिये ।

जैसे हमने इन्द्रियोंमें बैठकर विषयोंको देखा, मनमें बैठकर, इन्द्रियोंको देखा, अपने आपमें बैठकर मनको देखा तो अब हम कहाँ बैठकर अपनेको देखें ?

यदि अपने आपको देखोगे तो देखनेवालेको भी ढूँढ़ोगे । द्रष्टाके विचारका पर्यवसान अपने आपमें है । यदि कहो—'द्रष्टा द्रष्टाको देखता है' तो एक देखा जानेवाला द्रष्टा और एक देखनेवाला द्रष्टा—इस प्रकार अपने आप ही कर्ता और कर्म नहीं हो सकता । यह कर्तृ-कर्म विरोध है । बनानेवाला ही बननेवाला नहीं होता । कुम्हार अपनेको ही घड़ा नहीं बना सकता । घड़ेसे अलग रहकर घड़ेको बनायेगा । ऐसे ही द्रष्टा जब किसीको देखेगा तो उससे पृथक् रहकर उसको देखेगा । अतः दृश्य-द्रष्टा दो ही विभाग हैं । दृश्य अनात्मा है और द्रष्टा आत्मा है । इसलिए अपना आपा न दूसरेका दृश्य है, न अपना दृश्य है ।

जैसे शरीर पैदा होता—मरता है, मन पैदा होता—मरता है, वैसे मैं पैदा होता—मरता हूँ या नहीं ? जैसे मनको देखनेवाला मैं हूँ, वैसे ही मेरा देखनेवाला है या नहीं ?

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना ।।५।।

यह चिति (आत्मा) न उदय होती है, न अस्त होती है । यह न बढ़ती है, न घटती है । यह बिना किसी साधनके स्वयं प्रकाशित होती तथा अन्योंको भी प्रकाशित करती है ।

इस आत्माको ही पुलिंगमें आत्मा-साक्षी कहते हैं। स्त्रीलिंगमें इसीको संवित्, चिति कहते हैं, नपुंसक लिंगमें इसे तत्त्व, ब्रह्म कहते हैं। पहले इसे 'साक्षी दृगेव' कहा गया था। चौथे श्लोकमें चिति कहा था और यहाँ 'एषा' कहा है।

जितना मैं तुमको देखता हूँ—उसका जन्म होता है और जितना तुम मुझको देखते हो—उसका भी जन्म होता है। लेकिन तुम्हारे देखेसे मैं भिन्न हूँ और मेरे देखेसे तुम भिन्न हो। जो देखता है, वह द्रष्टा है। यदि आत्माका जन्म हो तो वह किसे मालूम पड़ेगा? जो मालूम पड़ेगा, वह दृश्य ही है। वह आत्मा ही नहीं है।

जन्म उसका होता है, जिसका प्रागभाव होता है। आत्माका प्रागभाव हो तो उसे जानेगा कौन? तुमसे ही जन्म सिद्ध होता है। तुम न होते तो जन्मका पता ही न चलता।

यदि कहो कि 'हम मरते हैं। तो इस मरणका अनुभव कौन करेगा? अनुभवकी कक्षामें अपनी मृत्यु नहीं आसकती। तुम अजन्मा हो, तुम अमृत हो। केवल चोला-शरीर बदलनेका नाम जन्मना और मरना है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता २.२२

कपड़े बदलते हैं और कपड़े बदलनेमें बच्चेको कष्ट होता है—बड़ेको नहीं। बच्चा अपनी पसन्दका कपड़ा उतारे जानेपर रोता है। आध्यात्मिक बचपन ही मृत्युसे डरता है। शरीर जैसे वेदान्तके सिद्धान्तमें वस्त्र है, वैसे ही भक्तिके सिद्धान्तमें भी वस्त्र ही है।

जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरि जान।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान॥

इस वस्त्रको बदल-बदलकर धारण करनेवाला इससे सर्वथा न्यारा है। वह वस्त्रके साथ बनता नहीं, वस्त्रके साथ बिगड़ता नहीं।

'नादेति नास्तमेत्येषा'—यह संवित्-चिति न कभी जन्म लेती, न इसका कभी अस्त होता। संसारमें देखनेमें आता है कि दीपककी लौ जलती है और बुझ जाती है। आग जलती है—बुझ जाती है। सूर्योदय होता है—सूर्यास्त हो जाता है। संसारके सब प्रकाश उदय होते हैं—अस्त हो जाते हैं। नेत्र-ज्योति भी उदय होती है—अस्त हो जाती है। वाग्-ज्योति भी उदय होती—अस्त हो जाती है। हम कभी बोलते हैं—कभी मौन हो जाते हैं। अतः प्रश्न उठा कि आत्मज्योतिका भी उदय-अस्त होता है क्या ?

जैसे शुक्रोदय-शुक्रास्त अथवा चन्द्रोदय-चन्द्रास्त होता है, वैसे क्या आत्म-चैतन्यका उदय-अस्त होता है ? जाग्रत्-स्वप्नमें इसका उदय तथा सुषुप्तिमें इसका अस्त हो जाता है क्या ?

जाग्रत्-स्वप्नमें आत्म-चैतन्य दर्शन-वृत्तिमें आरूढ़ होकर जाग्रत्-स्वप्नके विषयोंको प्रकाशित करता है। सुषुप्तिमें जाग्रत्के समान बाह्यपना और स्वप्नके समान अन्तरपना नहीं भासता। जैसे घड़ीका होना हमको मालूम पड़ता है, घड़ीका यहाँ न होना भी हमको ही मालूम पड़ेगा। घड़ी न होनेपर घड़ीकी कल्पना करें तो वह भी हमको ही मालूम पड़ेगी। घड़ी आयी, घड़ीकी कल्पना हुई, घड़ी नहीं रही—परन्तु देखनेवाला मैं ज्यों-का-त्यों रहा। जाग्रदवस्था—व्यवहारमें घड़ी होती है। स्वप्नावस्थामें घड़ीकी कल्पना होती है। सुषुप्तिमें घड़ी तथा घड़ीकी कल्पना दोनों नहीं होतीं, परन्तु वहाँ 'मैं' रहता है या नहीं ? सुषुप्तिमें 'मैं' नहीं रहता

तो जाग्रत्‌में जो पता लगता है कि सुषुप्ति नामकी अवस्था होती है, उस समय जाग्रत् भी नहीं है, स्वप्न भी नहीं है, घड़ी भी नहीं है, घड़ीकी कल्पना भी नहीं है—ऐसी एक अवस्था हमारी ही तो देखी हुई है। यदि यह अवस्था हमारी जानी है तो उस समय हमारा होना आवश्यक है।

कुछ लोग कहते हैं—'उस समय कुछ पता नहीं लगा, अब मालूम पड़ता है। यह तो अबका खेल है।'

हम कहते हैं—'सुषुप्ति भी नहीं थी। केवल उसकी कल्पना होती है। अनदेखी वस्तुकी याद आवे तो वह कल्पित है। यदि तुमने सुषुप्ति देखी तो सिद्ध हुआ कि सुषुप्तिके समय तुम थे। तुमने सुषुप्तिको देखा। यदि कहो—'हमने सुषुप्ति नहीं देखो तो अब तुम सुषुप्तिकी कल्पना कर रहे हो। सुषुप्ति हुई नहीं। जब सुषुप्ति ही नहीं हुई तो उसमें तुम्हारे न होनेकी बात कहाँसे आयी। अतः या तो सुषुप्ति मिथ्या है या तुम्हारी जानी हुई—दृश्य है। अतएव यह आत्म-चैतन्य ज्यों-का-त्यों है। इस संवित्‌का न उदय होता है, न अस्त।

'कथं न उदेति'—क्यों उदय नहीं होती ?
'प्रागभावाभावात्'—क्योंकि इसका प्रागभाव नहीं है।
'कथं न अस्तमेति'—अस्त क्यों नहीं होती ?
'प्रध्वंसाभावाभावात्'—क्योंकि इसका प्रध्वंसाभाव नहीं है।

उदय उसका होता है, जो पहले न हो। अस्त उसका होता है जो बादमें न रहे। तुम्हारा आत्म-चैतन्य कभी नहीं था—ऐसा नहीं है। आत्म-चैतन्यका प्रागभाव है ही नहीं। तुम्हारा आत्म-चैतन्य कभी नहीं रहेगा—ऐसा नहीं है। आत्म-चैतन्यका प्रध्वंसाभाव भी नहीं है।

तब, है और बदलता रहता है ? नहीं।

'न वृद्धि याति न क्षयम्'—जरा-सा बच्चा उत्पन्न हुआ था, बड़ा हो गया।

यह जिसका वजन बढ़ा या जिसका वजन घटा, वह तुम हो या कोई दूसरा ?

मैं वही था जो बचपनमें था। वृद्धि-क्षय तो शरीरका होता है। तुम वृद्धि-क्षयके साक्षी हो। वृद्धि-क्षय तुम्हारा नहीं होता।

जब उत्पन्न हुए थे, तब तुम्हारी किसीसे ममता नहीं थी। केवल शरीरमें ही ममता थी। जब देखा कि माँ दूध पिलाती है तो माँसे ममता हुई। फिर जो-जो प्यार करते थे, उनसे ममता है। फिर पड़ोसियोंसे हुई। फिर पति-पत्नी, सम्बन्धियोंकी ममता हुई। यह मनका—बुद्धिका फैलाव था। जो संकल्पमें नहीं था, विचारमें नहीं था, वह आया। पढ़ा-लिखा और सोचने लगे—'हमारी बुद्धि बढ़ गयी।' पीछे—'हमारी बुद्धि दुर्बल हो गयी। स्मरण नहीं रहता।' इस प्रकार ममता बढ़ गयी या घट गयी, बुद्धि बढ़ी या घट गयी, इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ी और घटी; परन्तु न तुम बढ़े, न घटे। तुम ज्यों-के-त्यों हो।

शरीर पैदा होता है, मर जाता है। शरीर बढ़ता है, घटता है। शरीर बदलता है, स्थिर रहता है। जिसको यह पैदा होना, रहना, बदलना, बढ़ना, घटना, मर जाना मालूम पड़ता है, वह इनसे न्यारा रहकर इन सबको देख रहा है। इन छः भाव विकारोंका जो द्रष्टा है, वह निर्विकार है। जो दृश्य है, वह विकारी है।

स्वयं विभाति—आपके हाथमें मौसम्बी है तो वह नेत्रसे सूर्यके प्रकाशमें दीखती है। कितनी मौसम्बी आयी-गयी, प्रकाश एक है। ऐसे ही मनमें सौ मौसम्बी आवें-जाय तो मौसम्बी तो कल्पनामें हैं,

किन्तु मौसम्बीका सौ-पना जिसको दीखता है, वह मौसम्बीसे न्यारा है। मौसम्बी गयो, सन्तरे, आम पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु इनको गिननेवाला एक है। यह कोई न रहे तो भी प्रकाशक तो है ही।

नेत्र सूर्यके प्रकाशसे काम करते हैं। वाणी अग्निसे शरीरमें उष्णता हो तब बोल पाती है। त्वचा वायुसे छूती है। जीभ सूख जाये तो रस-ग्रहण न करे, वह जलसे रस लेती है। नासिका पृथिवी तत्त्वकी सहायतासे गन्ध लेती है। चन्द्रमाकी किरणोंसे पुष्ट अन्न न खाया जाय तो मन काम न करे। ये सब इन्द्रियाँ और मन दूसरोंकी शक्तिसे प्रकाशित हैं; किन्तु आत्म-चैतन्य स्वयंप्रकाश हैं। आत्म-चैतन्य न अन्नरससे उत्पन्न होता है, न सूर्य ज्योतिसे, न अग्निस, न जलसे, न पृथिवीसे।

सूर्य हैं—यह वृत्ति भी आत्म-चैतन्यसे प्रकाशित होती है। अग्नि है–यह वृत्ति भी आत्म चैतन्यसे प्रकाशित होती है। आत्माके होनेके लिए सूर्य-चन्द्रमा-अग्निकी आवश्यकता नहीं है। देखो या न देखो, बोलो या न बोलो, सोचो या न सोचो—सब दशामें आत्मा है। वह सोचने न सोचने, बोलने न बोलने, देखने न देखनेका द्रष्टा है।

स्वयं विभाति—द्रष्टा किसीके द्वारा देखा नहीं जाता। 'यह द्रष्टा है' ऐसी कल्पना ही होती है। जैसे मनको देखनेके लिए हम हैं, हम हों तो मन दीखे, हम न हों तो मन न दीखे, ऐसे अपनेको देखनेके लिए कुछ और होनेकी जरूरत नहीं है। जो षड्भाव विकार रहित रहकर स्वयं-प्रकाश है, वह आत्मा है। जो स्वयं प्रकाश रहकर षड्भाव विकारोंको प्रकाशित करता है, वह आत्मा है। बिना किसी साधनके ही दूसरोंको प्रकाशित करता है और अपनेको प्रकाशित करनेके लिए इसे दूसरेकी आवश्यकता नहीं है।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ।।

श्रीमद्भागवत

आत्मदेव अनादि अविद्या जुड़नेसे जीव हो गये हैं। यह जीव अबतक अपनेको नहीं जान सका तो किस युक्तिसे, किस अन्वय-व्यतिरेकसे, किस विवेकसे यह अपने आपको जानेगा ? यह बात स्वयं सम्भव नहीं। अतः जो आचार्योंकी परम्परा है, उसीके रूपमें ईश्वर प्रकट होकर उसे अपना ज्ञान देता है। वैदिक परम्परा है—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

आचार्याद् हैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत् । (छान्दोग्य.)
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो; अणुरेष धर्मः ।। (क०)

अतः उपनिषत् आत्मदेवका कैसा स्वरूप बतलाते हैं, यह देखना पड़ता है—

'अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ ।'

जो कभी देखा नहीं गया, ऐसे द्रष्टा तुम हो। जो कभी सुना नहीं गया, ऐसे श्रोता तुम हो। जो कभी बुद्धिमें नहीं आया, ऐसे मन्ता तुम हो। जो कभी विज्ञानका विषय नहीं हुआ, ऐसे विज्ञाता तुम हो।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । गीता

नेत्रसे परमात्मा दृश्य नहीं है। मनसे परमात्मा जाना नहीं जाता। वाणीसे परमात्माका वर्णन नहीं होता। वह स्वयं-प्रकाश आत्मा है।

• **संगति**—आत्मा स्वयं प्रकाश और निर्विकार है। जो स्वयं प्रकाश है, वही निर्विकार होता है और जो निर्विकार होता है, वही स्वयं-प्रकाश होता है। 'मैं' पदका अर्थ ही निर्विकार होता है, 'तुम' पदका अर्थ निर्विकार नहीं होता, क्योंकि 'त्वं'को हम अद्वितीय नहीं जान सकते। 'त्वं'को नेत्रसे, मनसे ही देखा-जाना जायगा और वह दृश्य होगा। 'युष्मत्' पदार्थ 'अस्मत्' सापेक्ष होता है। 'अस्मत्' पदका अर्थ अबाधित होता है—'मैं' पद नहीं; क्योंकि 'मैं' तो कभी विश्व होता है, कभी तैजस और कभी प्राज्ञ। 'मैं' पदसे उपलक्षित जो साक्षी है, वह एक है, निर्विकार है, बदलता नहीं। यह असंग है—उदासीन है।

अविवेकसे अन्तःकरणको 'मैं'-'मेरा' और सच्चा समझनेके कारण एक कृत्रिम चिज्जड़-ग्रन्थि उत्पन्न हो गयी है। यह भी प्राकृत परम्परामें नहीं, अविद्याकी परम्परामें है। पुनर्जन्मकी निवृत्तिके लिए इस भ्रमकी निवृत्ति आवश्यक है, भानकी निवृत्ति आवश्यक नहीं है।

प्रश्न यह है कि अन्तःकरणका पुनर्जन्म होता है या द्रष्टाका ?

अविवेक-दशामें जहाँ चिज्जड़-ग्रन्थि है, जहाँ चेतन अपनेको जड़से विविक्त करके नहीं जानता, वहीं नरक-स्वर्ग पुनर्जन्म है।

चिज्जड़-ग्रन्थिको 'विचार-सागर' और 'पञ्चदशी'में आभास कहा है। विवरण-प्रस्थानमें उसीका नाम प्रतिबिम्ब है। इस प्रतिबिम्बको ही नरक-स्वर्गमें जाना पड़ता है। आभासको ही जन्म-मृत्युमें जाना पड़ता है, चेतनको नहीं। श्रीमद्भागवतमें इसका नाम वीर्य है। महत्तत्त्वाकार परिणत प्रकृतिमें भगवान्ने वीर्यका आधान किया।

अन्तःकरण दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है।

नास्ति द्रष्टरि दृश्यत्वं दृश्यस्य द्रष्टता नहि।
दृश्यरूपस्य बुद्ध्यादेः द्रष्टृता नहि दृश्यते ॥५॥

जो दृश्य होता है—वह द्रष्टा नहीं होता। जो द्रष्टा होता है, वह दृश्य नहीं होता। दीवार कभी द्रष्टा नहीं होगी, वह दीखेगी। आत्मा कभी दृश्य नहीं हो सकता, वह देखेगा। ये दोनों वस्तुएँ सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं।

पार्थक्य धर्ममें, भक्तिमें, योगमें और ज्ञानमें आवश्यक है। धर्ममें यदि देहसे आत्माको पृथक् नहीं समझोगे तो धर्मका फल मृत्युके बाद भी मिलता है, यह विश्वास कैसे करोगे? उपासनामें यदि शरीरसे आत्माको पृथक् नहीं समझोगे तो बैकुण्ठ, गोलोक जानेको कैसे समझोगे!' योगमें देहसे पृथक् आत्माको नहीं समझोगे तो समाधिका मैं द्रष्टा हूँ, ऐसा अनुभव करके कैवल्य कैसे होगा? वेदान्तमें शरीरसे पृथक् आत्माका नहीं समझोगे तो ब्रह्म किसको समझोगे? क्योंकि शरीरको तो ब्रह्म समझा नहीं जाता। अतः सभी सिद्धान्तोंके अनुसार देहसे पृथक् आत्माको समझना आवश्यक है।

योग-सांख्य मानते हैं कि जड़ वस्तुसे अलग रहकर द्रष्टा जड़ वस्तुको देखता रहता है।

वेदान्तका सिद्धान्त है कि द्रष्टा अद्वितीय ब्रह्मरूप है। देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है, अतः वस्तुसे भी वह परिच्छिन्न नहीं है।

नरक-स्वर्ग मरणोत्तर गति जड़में नहीं हो सकती और मरणोत्तर गति चेतनमें भी नहीं हो सकती। जब तुम अपनेको पूर्ण चेतन जानते हो तो न तुम्हारा स्थानान्तर है, न देहान्तर है। जैसे शरीरका स्थान, वेश, पद बदलता है, वैसे ही जो बदलता है,

वह परिच्छिन्न जीवका बदलता है। इसी बदलनेकों संसार कहते हैं।

आपने कालको अपने भीतर ले लिया, इसलिए विनाशी हो गये। आपने देशको अपने भीतर ले लिया, इसलिए आने-जाने वाले हो गये। आपने वस्तुको अपने भीतर ले लिया इसलिए आकार बदलनेवाले हो गये। ये सब जड़ अन्तःकरणके साथ रहते हैं। जहाँ परिच्छिन्नता है, वहाँ जड़ता है।

भेद-मात्र ही दृश्य होता है। दृश्य-जड़में संसार है तो उससे आपका कोई मतलब नहीं और द्रष्टा कभी संसारी हो नहीं सकता। जो असंसारी होगा, वही असंग और उदासीन होगा। न आत्मामें संसार है, न जड़में। जब संसार ही नहीं रहा तो इससे छुड़ानेकी आवश्यकता कहाँ रही ? तब वेदान्तको क्या आवश्यकता ?

इसमें भूल यह है कि आप बैठे कहाँ हैं, यह बात भूल गये हैं। जो देहमें तादात्म्य किये बैठा है, उसका मार्ग वहीसे बनेगा। जहाँ पहुँचना है, वहाँसे मार्ग नहीं प्रारम्भ होता। जहाँसे चलना है, मार्ग वहाँसे प्रारम्भ होता है। क्योंकि तुम मिट्टीसे बने शरीरको मैं मानकर बैठे हो, अतः तुम्हें यहींसे शुद्ध चेतन तककी यात्रा करनी पड़ेगी। इसके लिए आलम्बन लेना पड़ेगा। पञ्चकोश अवस्थामय आलम्बन हैं।

पञ्चकोशके विवेकसे अपनेको देहसे अलग करो। देहमें रहकर ब्रह्मानुभूति नहीं होती। देहसे विवेकके द्वारा अपनेको अलग करके ब्रह्मानुभूति होती है।

जब तुम विश्व-विराट्से एकताका अनुभव करोगे तो वेदान्तके पथपर तुम्हारा पहला पद उठेगा। देहाभिमान वेदान्तका कोई पद नहीं है। सूक्ष्म समष्टि—हिरण्यगर्भसे एकता द्वितीयपाद है। कारण

समष्टिमें विद्यमान चैतन्य प्राज्ञ ईश्वरसे एकता वेदान्तका तृतीय पाद है। अपनेको तुरीय जानकर तीन पादको उपाधिका भग हो हो जाना, तीनका तोन न रहकर केवल तुरीय हो जाना ही तत्त्व है।

चिज्जड़-ग्रन्थि न है, न पैदा हुई। तुम जो स्वयं अपनेको एक ग्रन्थिमें आबद्ध मान रहे हो, यह तुम्हारी अज्ञानमूलक मान्यता ही ग्रन्थि है।

हम अज्ञ हैं। हम कामी, क्रोधी, लोभी, मोही हैं। हम मरने-जीनेवाले हैं। हम संशय-ग्रस्त हैं। हम आने-जानेवाले हैं। हम किसीसे पृथक् हैं। ये सब ग्रन्थियाँ हैं। अविद्या-दशामें ही देहाभिमानके आधारपर ही ये सब ग्रन्थियाँ सच्ची लगती हैं। श्रीमद्-भागवतमें प्रश्न आया—

अग्निवद् चिद्दारुवद्देहः कस्येह संसृतिः।

अग्निकी भाँति चेतन है और लकड़ीकी भाँति शरीर है। न अग्निमें संसरण है, न लकड़ीमें, तो यह आता-जाता कौन है? उत्तर दिया गया—

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥

देह, इन्द्रिय, मन और प्राणके साथ तुमने अपने आपको जोड़ लिया है—यही संसारको देता है। इसीके कारण देहान्तर होता है। सत्य-तथ्य न होनेपर भी यह अविवेकीको ही प्राप्त होता है।

जड़का पुनर्जन्म नहीं होता। जड़का अस्तित्व और उसकी उत्पत्ति हम ऐसी जगह रहकर मानते हैं, जहाँ अज्ञान-ही-अज्ञान है। क्योंकि हम वस्तु तत्त्वको नहीं जानते। अतः हम जड़की उत्पत्ति और जड़का होना मानते हैं।

यह जो जड़ता मालूम पड़ती है, उसका एक अंश ऐसा है जो चेतनसे मिलता-जुलता है। उसमें इतना प्रकाश है कि उस जगह हम चेतन और जड़का विवेक नहीं कर पाते। वहाँ चेतनता जड़तासे मिल गयी है। उस जड़तामें चेतनकी छाया पड़ गयी हो और हम अपनेको चेतन न समझकर वही छाया समझने लगें।

जब आप अपनेको दृश्यसे अलग करके द्रष्टा जानते हों तो 'हम अपने आपको द्रष्टा जानते हैं' ऐसा खयाल होता है या नहीं? जो जाना गया, वह तो द्रष्टा ही नहीं है। वहाँ तो बुद्धि लगी है। 'हम द्रष्टामें स्थित होते हैं, यह स्थिति भी दृश्य है या नहीं? सच पूछो तो 'द्रष्टा-दृश्यका विवेक' वेदान्त-शास्त्रका एक गणित है। इसका फल है—द्रष्टा और दृश्य दो नहीं हैं।

द्रष्टा द्रष्टा एक है, द्रष्टा-स्रष्टा एक।
द्रष्टा-दृश्य विवेकका मूल है—दोनों एक॥

पहले हम स्रष्टाको जगत्‌का अभिन्न निमित्तोपादान कारण समझते थे। उसीने सृष्टि बनाया और स्वयं ही सृष्टिके रूपमें बन गया। लेकिन जब द्रष्टा एक है, यह बात ज्ञात हुई तो स्रष्टाके साथ हमारा अभेद हो गया और सृष्टि दृष्टि हो गयी। दृष्टि-सृष्टिका भी अभेद हो गया। द्रष्टा-द्रष्टाका भेद तो है ही नहीं; क्योंकि भेद दृश्यमें होता है। भेद देखा जाता है। दृष्टि-सृष्टि एक हुई तो सृष्टि परिणाम नहीं रही, विवर्त हो गयी। सृष्टि बिना हुए ही अद्वितीय द्रष्टामें भास रही है। द्रष्टासे विलक्षण न दृष्टि है, न सृष्टि है। द्रष्टामें दृष्टि आरोपित है और दृष्टिकी अपेक्षासे द्रष्टाका द्रष्टापन भी आरोपित है। एक अद्वितीय परमतत्त्व है, जिसे न द्रष्टा कह सकते, न स्रष्टा। परमात्माको अद्वितीयताको समझानेमें द्रष्टा-दृश्य विवेकका अभिप्राय है।

अन्तः बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः।

जड़का जो अंश चेतनताके अत्यन्त निकट होनेसे प्रकाशमान लगता है, उसे बुद्धि कहते हैं। इस बुद्धिसे तादात्म्य करके हम अपनेको बुद्धिमान् कहते हैं; किन्तु बुद्धि सदा ठीक सलाह ही नहीं देती, कभी-कभी बहुत विपरीत सलाह भी देती है। सुषुप्तिमें बुद्धि सो जाती है, बुद्धि घटती-बढ़ती-बदलती है। अतः बुद्धिके विषयमें विचार करना आवश्यक है।

चिच्छायाऽऽवेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहंकृतिरन्यास्यादन्तःकरण - रूपिणी ॥६॥

बुद्धिमें चेतनकी छायाके आवेशसे प्रकाश है। यह बुद्धि दो प्रकारकी है—एक अहंकाररूपा और दूसरी अन्तःकरणस्वरूपा।

कामः तदग्रे समर्वतत।

सृष्टिके प्रारम्भमें ही काम था, यह ऋग्वेदकी श्रुति है। 'सोऽकामयत' उसने कामना की 'बहुस्यां प्रजायेय' मैं बहुत हो जाऊँ—मैं पुत्र-पौत्रादि रूपमें प्रकट होऊँ। अर्थात् इच्छासे ही सारी सृष्टि प्रवृत्त हुई।

विवाहके समय एक मन्त्र बोला जाता है—

कोऽदात् कस्मै अदात्? कामोदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिगृह्णीता कामैतत्ते।

किसने दिया? किसको दिया? कामने दिया। कामको दिया। काम ही दाता है। काम ही प्रतिगृहीता है।

महाभारतके शान्तिपर्वके मोक्ष-धर्ममें भक्ति-गीता नामसे काम-गीता है। उसका एक श्लोक है—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति॥

ओ काम ! मैं तेरी जड़ जानता हूँ। किसी वस्तुको अच्छी समझनेसे तू उसके विषयमें हो जाता है। मैं किसी भी वस्तुको संसारमें अच्छी समझूँगा ही नहीं तो तू मेरे मनमें कहाँसे आयेगा ?

यद् यद् हि कुरुते जन्तुः तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।
अकामस्य क्रिया काचित् वर्तते नेह कर्हिचित् ॥

निष्काम पुरुषकी क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य जो-जो चेष्टा करता है, उसमें काम मिला है।

आज फ्रायडके मनोविज्ञानमें नवीन बात क्या कही गयी है ? फ्रायडका मनोविज्ञान हमारे शास्त्रीय मनोविज्ञानकी एक शाखाके अन्तर्गत ही आ जाता है; लेकिन यह मनका एक साधारण रूप है।

बौद्ध कहते हैं—एक रूप-देहस्कन्द है। इस आकारवाले शरीर को 'मैं' समझना एक भूमि है। दूसरी भूमि है नाम-स्कन्द। उसके चार विभाग हैं—संज्ञास्कन्द, वेदनास्कन्द, संस्कारस्कन्द और विज्ञानस्कन्द। ये मनके चार भेद हैं। बौद्धोंमें इसे अभिधर्म शास्त्र कहते हैं। इसमें मनकी समस्त वृत्तियोंको ७३ वर्गोंमें बाँट दिया है। इस ७३ प्रकारको चार वर्गमें और उस चार वर्गको दो वर्गोंमें ले लेते हैं।

संज्ञास्कन्द—हम जो अलग-अलग नाम जानते हैं, उन नामोंकी जानकारीकी संस्कार-राशि।

वेदनास्कन्द—इसको छूनेसे हम जल जायँगे। इसको छूनेसे शीतलता मिलेगी। इसको खानेसे मर जायँगे। यह दर्द हो रहा है—ऐसे संस्कार।

संस्कारस्कन्द—वर्षों पूर्व देखी वस्तु आज अकस्मात् याद आती है। पढ़ी-सुनी-देखी-अनुभव की गयी बातोंके संस्कार एकत्र हो गये हैं।

विज्ञानस्कन्द—यह 'अहं'के रूपमें स्फुरित होता है। इसके दो भेद हैं—आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान। आलय-विज्ञानमें एकताका भान होता है कि 'मैं' जो कल था, वही आज हूँ।' अपनेमें एकताका प्रत्यय बना रहता है।

मूल-भूत बुद्धि अज्ञानात्मिका ही है और उसके बाद अहंका विज्ञान है। फिर कामना, इच्छा, लोभादि आते हैं।

मेरा तात्पर्य है कि मनके विषयमें हम सबकी जानकारी उधार ली हुई है। हम स्वयं तो अपने मनके विषयमें कुछ सोचते नहीं और भिन्न-भिन्न जातियों, देशों, सम्प्रदायोंमें उनके संस्कारोंसे अभिभूत होकर लोगोंने जो नवीन-नवीन मनोविज्ञानकी कल्पना की है, उसे पढ़कर हम अनजानमें ही उनके अनुयायी हो जाते हैं। इसपर भी अपनी समझका अहंकार करते हैं।

वैदिक मनोविज्ञानके अनुसार हमारा मन चार अवस्थाओंमें काम करता है—

१. जाग्रदवस्थामें निश्चयपूर्वक काम करता है। जाग्रत्‌में इसी निश्चयकी प्रधानता रहती है।

२. स्वप्नावस्थामें संकल्पोंका बिना क्रम व्युत्थान होता है। यह संकल्पात्मक अवस्था होती है।

३. सुषुप्तिमें न बुद्धि रहती, न संकल्प; किन्तु एक अज्ञान-वृत्ति क्रियाशील रहती है। रक्त चलता है श्वास चलती है, पाचन होता है, घाव भरता है, केश-नख बढ़ते हैं। यह सब काम मनका व्यवस्थापक रूप करता है।

निश्चयवाले मनको बुद्धि कहते हैं। संकल्प करनेवालेको मन कहते हैं। व्यवस्थापक मनको अहंकार कहते हैं।

४. मनका एक अंश समाधिमें भी रहता है। समाधिमें न

श्वास चलती, न केश-नख बढ़ते, न पाचन होता, न रक्त चलता, न घाव भरता। तात्पर्य यह कि व्यवस्थापक अहंकार भी समाधिमें सो जाता है। वहाँ केवल चित्त रहता है। चित्त रहता है परन्तु चित्तकी वृत्ति नहीं रहती। चित्त न रहता हो तो समाधिसे उठनेपर सब स्मृतियाँ जागतीं कैसे? संस्कारोंकी राशिका नाम चित्त है।

संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान--इसमें प्रवृत्ति-विज्ञान और आलय विज्ञान—यह बौद्ध मनोविज्ञान है, निश्चय, संकल्प, व्यवस्था एवं संस्कार-राशि—यह वैदिक मनोविज्ञान है।

चिच्छायावेशतो—बुद्धिमें जो 'अहं-अहं', 'इदं-इदं'की स्फूर्ति होती है, वह एक ही चैतन्य बुद्धिमें बैठकर 'अहमिति' और 'इदमिति' इस दो प्रकारसे स्फुरित होने लगता है। चैतन्यकी प्रधानतासे 'अहं'की स्फुरणा है और जड़की प्रधानतासे 'इदं'की स्फुरणा होती है। हैं दोनों बुद्धि हो। 'अहं-इदं' दोनोंकी स्फुरणा बुद्धिमें ही हो रही है; किन्तु वहाँ चेतन और जड़का विवेक नहीं रहता अर्थात् अज्ञान-मूलक भ्रान्ति वहाँ विद्यमान रहती है।

बुद्धिमें जो आभास 'मैं'का होना है, इसीको कहते हैं चिच्छाया इसी चिच्छायाके कारण हम अपनेमें जड़का धर्म मानते हैं। जब अपनेमें जड़के धर्म जन्मको मानते हैं, तब इसके मूलभूत कर्म और उसके कार्यभूत जन्म दोनोंकी कल्पना हो जाती है।

जब हम इस शरीरको 'मैं' मानते हैं, तब तो इस शरीरका वर्तमान जन्म अपनेमें आरोपित हो जाता है तो इसके पहले भी जन्म होगा—बादमें भी जन्म होगा। इस प्रकारकी भ्रान्तिसे हम ग्रस्त हो जाते हैं।

यदि इस देहमें 'मैंपने'का उदय न हो—देह स्थूल, सूक्ष्म,

कारण अर्थात् चेतनप्राय जो जड़ है, वहाँतक इस देहमें 'मैंपना' न हो तो पुनर्जन्म, नरक-स्वर्गादि सबकी कल्पना छूट जाय।

यह चिच्छाया—आभास दो प्रकारसे भासता है, एक परिच्छिन्न अहंके रूपमें और दूसरा अन्तःकरणके रूपमें। यह बुद्धि हो अपनेको अन्तःकरण तथा परिच्छिन्न अहं दिखला रही है।

चिच्छाया—पाँच भौतिक जगत्का जैसे स्थूल स्तर होता है, वैसे ही सूक्ष्मतर स्तर भी होता है। वह सूक्ष्म स्तर इतना सूक्ष्म होता है कि वहाँ चेतन और जड़का भेद करना सम्भव नहीं होता। वहाँ जड़ता चेतनके समानुपातमें सूक्ष्म हो गयी है। वह सात्त्विक तन्मात्रामें वहाँ ज्ञानप्राय हो गयी है। वहाँ ज्ञानसे प्रायः मिल जानेके कारण मन और आत्माका भेद नहीं हो पाता। मनकी स्वच्छतामें जो चेतनका आभास है, उसीको चिच्छाया कहते हैं। उस चिच्छायाके द्वारा ही बुद्धि ससारके विषयोंको ग्रहण करती है।

उस बुद्धिके दो रूप होते हैं—एक वृत्तिरूप और एक वृत्तिमान् रूप। वृत्तिरूपको अन्तःकरण कहते हैं और वृत्तिमान् रूपको अहंकार कहते हैं।

वेदान्तमें मनस्तत्त्वका विचार इस प्रकार है—कि एक अहं वृत्ति होती है, एक इदं वृत्ति और एक वृत्तिसे मुक्त अहं होता है। न वृत्ति है, न वृत्तिमान् है। वृत्तिमान् न होनेपर भी वह अपनेको वृत्तिमान् मानता है। 'इदं' वृत्तिके अन्तर्गत ही शोक, मोह, भय, काम क्रोधादि वृत्तियाँ हैं।

● **संगति**—आकाशमें जो नीलिमा दीखती है, उसके सम्बन्धमें विचार करना है तो पहले नीलिमा और आकाश दोनोंको एक मानकर विचार मत कीजिये। दोनोंको दो मानकर पहले विचार कीजिये।

नीलिमा समीप लगती है, पर वहाँ जानेपर नहीं मिलती। यहाँसे जितनी दूर दीखती है, वहाँ जानेपर भी उतनी ही दूर दीखेगी। नीलिमा दीखती है; परन्तु ढूँढ़नेपर मिलेगी नहीं। जिस आकाशमें नीलिमा दीख रही है, वह आकाश निराकार है। जब ज्ञात होगा कि आकाश निराकार है, तब पता लग जायगा कि निराकारमें रंग हो नहीं सकता। तब दीखनेवाली नीलिमा बाधित हो जायगी। वह मिथ्या प्रतिभासमात्र होगी।

जीवनमें विचार करनेपर एक देह दीखता है। देहके भीतर आभास-ज्ञान मालूम पड़ता है और ज्ञानमें निर्लिप्तता दीखती है।

जैन कहते हैं—'शरीरमें द्रव्य-मन रहता है, यह देहका साक्षी है। उसके भीतर भाव-मन रहता है। यह आत्माका साक्षी है। भाव-मन कभी आत्मासे एक होकर रहता है, कभी अलग होकर रहता है।'

दिगम्बर सम्प्रदाय कहता है—'जिनके शरीरमें द्रव्य-मन होता है, उन्हींके भाव-मन होता है।'

श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहता है—'जिनके शरीरमें द्रव्य-मन नहीं होता, उनके भी भाव-मन होता है।'

'प्रारब्धके वेगसे अणुमन भी शरीरमें दौड़ता रहता है और पूरे शरीरका ज्ञान प्राप्त करता है अथवा पूरे शरीरमें मन रहता है'—यह दो मत हैं।

योगका कहना है—पूरी सृष्टिमें मन व्यापक रहता है। अतः

जब हम मनको शुद्ध कर लेते हैं तो दूसरे देश, दूसरे काल, दूसरे शरीरकी बात शुद्ध मन, शुद्ध प्रज्ञाके द्वारा जान सकते हैं।

वेदान्त कहता है—स्थूल शरीर जितना बड़ा होता है, उतना ही बड़ा मन होता है। शरीरके एक-एक रोममें मन होता है। रक्तकी प्रत्येक बूंद में मन होता है। समग्र शरीर मनसे व्याप्त होता है। जब यह बुद्धिरूपसे जागता है, तब जाग्रदवस्था होती है। जब कल्पनारूपसे जागता है, तब स्वप्नावस्था होती है। जब केवल व्यवस्थापक रूपमें रहता है, तब सुषुप्ति-अवस्था होती है। जब यह निर्वृत्तिक रूपमें रहता है तब समाधि-अवस्था होती है। साक्षी आत्मा इससे परे है।

वैष्णव मनको अलग मानते हैं, नित्य मानते हैं, भगवदाकार होनेके योग्य मानते हैं।

जैन-दर्शनमें मनको भिन्न-भिन्न मानते हैं। स्याद्वादकी रीतिसे भाव-मन शायद आत्मासे भिन्न है, शायद आत्मासे भिन्न नहीं है, शायद भिन्नाभिन्न दोनों है—ऐसे अनेकान्त रूपमें वे मनका प्रतिपादन करते हैं।

इसी मनस्तत्त्वको यहाँ चिच्छाया कहा गया है और उसीका निरूपण कर रहे हैं।

छायाऽहंकारयोरैक्यं तप्तायः पिण्डवन्मतम्।
तदहंकारतादात्म्याद् देहश्चेतनतामगात् ॥७॥

छाया (चिच्छाया) और अहंकारकी एकता तपे हुए लौह-पिण्डके समान है। इस अहंकारसे तादात्म्य करके देहमें चेतनत्व आता है।

लोहेका गोला है—उसे अग्निमें डाल दिया। गोला लाल हो गया। अब पूरा गोला अग्नि जान पड़ता है। इसी प्रकार अहंकार है तो जड़ तत्त्व; किन्तु चेतनकी छायासे एक हो गया है। इसलिए

अहंकार ही चेतन जान पड़ने लगा है। इस परिच्छिन्न देहमें अहं बुद्धिके कारण यह देह भी चेतन-सा लगता है। देहमें चेतना अहंकारके तादात्म्यके कारण है।

० **संगति**—अब अहंकारके तादात्म्यका वर्गीकरण करते हैं—

अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यञ्च त्रिविधं क्रमात् ॥८॥

अहंकारका चिच्छाया शरीर और साक्षीके साथ सहज, कर्मज और भ्रान्तिजन्य यह क्रमशः तीन प्रकारका तादात्म्य है।

साक्षीके स्वरूपको न जानकर हम अपनी साक्षिताको अहंकारमें डाल देते हैं। देहसे कटे हुए अन्तःकरणसे परिच्छिन्न अहंमें हमें साक्षी होनेका भ्रम हो गया है और अहंकारकी परिच्छिन्नताको अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। इसकी तीन स्थितियाँ है—

१. कर्मजनित देहमें 'मैं' होना। २. भ्रमके कारण परिच्छिन्न अहंकारको ही आत्मा—साक्षी समझ लेना। ३. चिच्छाया आभास जो बुद्धिसे मिल गया है, उसको 'मैं' समझना।

चिच्छाया और आभासकी एकता सहज है। साक्षी और अहंकारकी एकता भ्रान्तिजन्य है। देह एवं साक्षीकी एकता कर्मजन्य है।

जब अज्ञान मिट जाता है तो भ्रान्ति-साक्षी एवं अहंकी एकताका भ्रम अविद्याके निवृत्त होनेके साथ ही निवृत्त हो जाती है। आभास एवं अहंकी एकता बाधित हो जाती है। देह तथा अहंकी एकता जबतक कर्मजन्य देह है, तबतक रहती है। इस प्रकार कर्मज भ्रान्ति शरीर पर्यन्त रहती है। सहज भ्रान्ति प्रातिभासिक हो जाती है। अविद्याजन्य भ्रान्ति तत्त्वज्ञान होनेपर तत्काल निवृत्त हो जाती है।

• संगति

हमें सुख चाहिए, और नित्य सुख चाहिए, यह तो समझमें आया ही हुआ है; लेकिन नित्यसे ही नित्य सुख मिल सकता है, यह बात समझना है। इसके लिए नित्य-अनित्यका विवेक होना आवश्यक है।

आप नित्य सुख चाहते हो और उसे अनित्य सम्बन्धसे चाहते हो। वह तो बिछुड़ेगा। संसारके सब सम्बन्ध अनित्य ही होते हैं; क्योंकि वे एक दिन उत्पन्न होते हैं और फिर मिट जाते हैं। आत्मा नित्य है—संसारकी वस्तुएँ एवं देह भी अनित्य है। नित्यका जो अनित्यसे सम्बन्ध है, वह नित्य नहीं हो सकता। वह अनित्य ही होगा; क्योंकि हम बने रहेंगे और ये सम्बन्धवाले पदार्थ बदलते रहेंगे। शरीर भी बदलता रहेगा।

अनित्य और अनित्यका सम्बन्ध अनित्य होता है। अनित्य और नित्यका सम्बन्ध भी अनित्य होता है। नित्य और अनित्यका सम्बन्ध भी अनित्य होता है; क्योंकि सम्बन्ध ही अनित्य है। अतः वेदान्तके नित्या-नित्य वस्तुका विवेक करते हैं।

तीन प्रकारके जो सम्बन्ध चिच्छायाके बतलाये, उनकी स्थिति बतलाते हैं—

सम्बन्धिनोस्सतोर्नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्त्तेते क्रमादुभे ॥९॥

दोनों सम्बन्धियोंके रहते हुए सहज सम्बन्धकी निवृत्ति नहीं होती। शेष दोनों कर्मजन्य और भ्रान्तिजन्य सम्बन्ध क्रमशः कर्मक्षय होनेसे और ज्ञानके द्वारा अविद्या निवृत्त होनेसे निवृत्त हो जाते हैं।

किसी भी तत्त्वमें आकार तब बनता है, जब कोई क्रिया होती है। जैसे पानीमें लहरें तब उठती हैं, जब वायु चलती है। सोनेमें

आभूषण बनता तब है जब उसे गलाने, हथौड़ीसे पीटनेका कर्म होता है। बिना कर्मके आधार नहीं बनता।

कर्म दो प्रकारका होता है—विचाररूप कर्म और कर्तृत्व पूर्वक किया कर्म। विकारसे कर्म होता है—जैसे कोई वस्तु रखी गयी सड़ गयी, उसका रंग, रूप, गन्ध, स्वाद बदल गया। इस प्रकार यह मनुष्य शरीर चैतन्यका विकार नहीं है और प्रकृतिका विकार भी नहीं है। यह कर्मके अनुसार बनाया हुआ बड़ा व्यवस्थित है। शरीरको चाहे जड़ तत्त्वमें मानो या चेतन तत्त्वमें—बिना कर्मके यह शरीर उत्पन्न नहीं हो सकता। सुषुप्ति कालमें जब कर्म विलीन हो जाते हैं, तब यह पड़ा रहता है।

कर्तृत्वपूर्वक हुए कर्मसे पाप-पुण्यको उत्पत्ति होती है। विकारसे हुए कर्मसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे मनुष्य नशेमें या पागलपनमें जो बोलता-करता है, उससे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

हम स्वयं ज्ञानस्वरूप साक्षी हैं और इस शरीरको 'मैं' समझते हैं—यह भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति भी बुद्धिमें हुई। अन्तःकरणमें जो संस्कार हैं, उन्हींसे वासनाएँ उठती हैं। जड़ताके अत्यन्त स्वच्छ स्तरपर जहाँ जड़ता और चेतनताका भेद नहीं मालूम पड़ता, वहाँ चिच्छाया पड़ी है। समष्टिमें वही ईश्वर कहा जाता है। उसमें कभी अज्ञान, भ्रम नहीं होता। वह कभी अपनेको जड़, विकारी नहीं समझता, किन्तु व्यष्टिमें जो अन्तःकरणका स्वच्छ स्थल है, यहाँ जो छाया पड़ी है, वह चिच्छाया है क्योंकि व्यष्टि बुद्धिसे सम्बन्ध रखती है, इसलिए यहाँ भ्रान्ति हो जाती है।

'भ्रमणः भ्रमः'—आत्मदेव तो परिपूर्ण हैं। वे कहीं आते-जाते नहीं; किन्तु अन्तःकरणमें जो आभास है, वह मनमें आकर संकल्प करता है। नेत्रादि इन्द्रियोंमें आकर रूप, रसादिका अनुभव

करता है। भ्रम यह है कि घूमता है मन और हम समझते हैं कि 'हम घूम रहे हैं।' बुद्धि घूमती है और हम समझते हैं, हम घूम रहे हैं। पैर चलते हैं—हम अपनेको चलता समझते हैं। जीभ बोलती है—हम अपनेको बोलता समझते हैं। जो 'हम' नहीं हैं, उसे 'हम' मान बैठना भ्रान्ति है। अपने सच्चे स्वरूपको न जाननेसे भ्रान्ति होती है। चित् और छायाके अविवेकसे भ्रान्ति हुई है।

जैसे दर्पणमें अपनी छाया दीख रही है और उसपर कोई घूसा मार दे कि 'तुमको मारते हैं' तो इससे अपना अपमान मालूम होगा।

ज्ञान ही वस्तु है। ज्ञानमें जो आकार दीखते हैं वे वस्तु नहीं हैं। 'चिच्छायामैक्यमागता' हम अपनेको चेतन नहीं समझते—छाया समझते हैं।

कर्म-प्रारब्ध समाप्त होनेपर शरीर छूटता है। वेदान्त द्वारा अपने स्वरूपका ज्ञान होनेसे अज्ञान मिट जाता है। चिच्छाया माया है—जब हम परिच्छिन्नमें बैठकर उसके विषयमें विचार करेंगे तो वह सच्ची मालूम पड़ेगी और जब अपने स्वरूपमें बैठकर विचार करेंगे तो वह झूठी मालूम पड़ेगी; क्योंकि अनन्त ब्रह्ममें छायाका होना सम्भव नहीं है और शरीरकी दृष्टिसे बिना छायाके हुए यह विश्व दीख नहीं सकता। परन्तु वह सिद्ध नहीं की जा-सकती। अतः इस माया-चिच्छायाको अनिर्वचनीय कहते हैं।

संगति

सातवें श्लोकमें कहा कि 'अहंकारके तादात्म्यसे ही देहमें चेतना रहती है' अब उसीका विवेचन कर रहे हैं।

अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहोप्यचेतनः।
अहंकारविकासार्द्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ॥१०॥

अहंकारके लय होने या सो जानेपर देह भी अचेतन हो जाता है। अहंकारका स्वप्न आधा तथा जाग्रत् पूरा विकास है।

सुषुप्तिकालमें जब देहाहंकार लीन हो जाता है तो देह जड़के समान हो जाता है। अहंकारका आधा विकास स्वप्न है और अहंकारका पूरा विकास जाग्रत् है।

इसमें एक वृत्ति और एक वृत्तिमान् ऐसा दो विभाग भास रहे हैं, वह चिच्छाया-माया है। अखण्ड परमब्रह्म परमात्मामें ये तीनों न होकर ही भास रहे हैं।

● संगति

स्वप्न और जाग्रत्में भीतर और बाहरका भेद कल्पित है। ये दोनों भेद कैसे कल्पित होते हैं?

अन्तःकरणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता।
वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान् बहिः ॥११॥

चितिकी छाया अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे एकताको प्राप्त होकर स्वप्नमें वासनानुसार कल्पना करती है और जाग्रतमें इन्द्रियोंके द्वारा बाहर विषयोंकी कल्पना करती है।

अन्तःकरणकी वृत्ति चितिच्छायासे, परछाईंसे एक हो जाती है और फिर स्वप्नमें वासनाकी कल्पना करती है।

कारणं कर्म कर्तेति क्रिया स्वप्ने फलं च धीः।
आत्मन्येव यतो द्रष्टा··· ···· ···· ···· ········ ॥

भगवान् शंकराचार्यजी कहते हैं—'स्वप्नावस्थामें हाथ-पैर आदि करण दीखते हैं। कर्म होते हैं। यज्ञ-दानादि पुण्य तथा पाप कर्म भी स्वप्नमें होते हैं। कर्तामें पापी-पुण्यात्माका भेद भी मालूम

पड़ता है। वहाँ दुःख-सुख भी मिलता है। दुःखसे बचनेकी बुद्धि भी होती है। ठीक जाग्रतके समान सब बातें स्वप्नमें होती हैं। विचार करो कि इस समय जो आपको द्रष्टा भास रहा है, स्त्री-पुरुष, मकान-दूकान भास रहे हैं, इनका क्या स्वप्नमें देखेके समान होना शक्य है ?

स्वप्न-में-स्वप्न भी तो जाग्रत्के समान ही सच्चा लगता है। यह संसार, स्वप्नके संसारके समान ही है। यह तो प्रेम हो जानेके कारण लगता है कि संसार लाखों वर्षोंसे चला आरहा है और लाखों वर्षोंतक चलेगा।

आप चार बातोंका ध्यान रखो—

१. काम-क्रोधके वशमें मनको मत होने दो।

२. अपने जीवनमें दुश्चरित मत आने दो।

३. सिद्धियोंके चक्करमें मत पड़ो। सिद्धियाँ नासमझ लोगोंको संसारमें भटकानेके लिए हैं।

४. अपने मनको चंचल मत करो। मनको एकाग्र करके अपने लक्ष्यमें लगाओ।

'वासना कल्पयेत् स्वप्ने'—चितिच्छायासे एकताको प्राप्त हम हैं। एक अखण्ड परिपूर्ण परमब्रह्ममें दूसरा कोई है ही नहीं जिसे यह प्रकाशित करे। अतः अपने-आपमें अपने-आपसे अपने-आपको ही प्रकाशित करता है। इसमें जो प्रकाश्यांश है, उसे छाया कहते हैं और जो प्रकाशक अंश हैं, उसे चित् कहते हैं। हम देखे बिना रह नहीं सकते और दूसरा कोई है नहीं, अतः अपने आपको ही देखते हैं।

देह भावकी निवृत्तिके लिए छायाकी कल्पना करनी पड़ती है। एक देहमें भीतरकी कल्पना है, और एक देहसे बाहरकी कल्पना

है। भीतर दीखता है कि यह दृश्य है और मैं द्रष्टा हूँ! मैं द्रष्टा हूँ, यह भी भीतर ही दीखता है। जैसे वासना स्वप्नमें भीतर दृश्य दिखलाती है, वैसे ही जब जागते हैं तो इन्द्रियोंके रास्ते हम बाहर देखते हैं। देखता मन ही है। जैसे चश्मा नहीं देखता, नेत्र देखते हैं। कभी चश्मा लगाकर देखते हैं, कभी चश्मेके बिना देखते हैं, ऐसे ही नेत्र भी एक चश्मा है। कभी मन इन नेत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा देखता है, कभी बिना इन्द्रियोंके देखता है।

जागरे—जाग्रतावस्थायां अक्षैः इन्द्रियैः बहिः विषयान् पश्यति—जाग्रतावस्थामें इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके विषयोंको देखता है। बाहर भी अपनी वासनाएँ ही दीखती हैं। वासनाओंके दीखनेमें कोई अन्तर नहीं है। स्वप्नमें भी करण-इन्द्रिय, कर्म और कर्ता जाग्रत्के समान ही होते हैं।

भगवान् श्रीशंकराचार्यजीने कहा—

'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिजर्गारितम्।' इन्द्रियोंसे संसारके मिलनेका नाम जाग्रत् है।

'करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः यः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः।' इन्द्रियोंके बन्द हो जानेपर जाग्रत्के संस्कारोंसे उत्पन्न जो सविषय वृत्तियाँ हैं, उनको स्वप्न कहते हैं।

'सर्वप्रकारकज्ञानोपसंहारः बुद्धेः कारणावस्थानं सुषुप्तिः।' सब प्रकारके ज्ञानका उपसंहार होकर बुद्धिका कारण रूपमें बैठ जाना सुषुप्ति है!

चाहे जाग्रत् हो, चाहे स्वप्न, चाहे सुषुप्ति—सब आने-जाने-वाली अवस्थाएँ हैं। संवत्सरोंके नाम बदलते हैं, महीने बदलते हैं, शुक्ल और कृष्ण पक्ष बदलते हैं, दिन बदलते रहते हैं—ये अनेक बार आते-जाते हैं। जैसे मिनट घण्टे होनेसे, सात दिन होनेसे, दो पक्ष होनेसे, बारह महीना होनेसे, साठ सम्वत्सर होनेसे, चार

युग होनेसे भी कालमें भेद नहीं होता, ये कल्पनाएँ आती हैं और जाती हैं मन्वन्तर-पर-मन्वन्तर, कल्प-पर-कल्प बीतते जाते हैं; पर काल एक ही रहता है, वैसे ही जाग्रत्-स्वप्न, सुषुप्ति आती-जाती हैं; परन्तु द्रष्टा चैतन्य आत्मदेव सदा एकरस रहते हैं।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—आप जाग्रतावस्थाको तो सच्ची मानते हो, उसपर विचार करते हो, स्वप्नपर विचार क्यों नहीं करते ? ऐसा कौन-सा कारण है कि जाग्रत् सच्चा है और स्वप्न झूठा है ? दोनोंमें क्या अन्तर है ? क्या स्वप्नमें पाप-पुण्य नहीं मालूम पड़ता ? क्या स्वप्नमें सुख-दुःख नहीं होता ? क्या स्वप्नमें सब कर्म और भोग नहीं होते ? क्या उस समय वे सच्चे नहीं मालूम पड़ते ? जैसे इस समय तुम्हें संसार सच्चा लगता है, यह अवस्था जाग्रत् लगती है, वैसे उस समय भी तो संसार सच्चा लगता है और वह अवस्था जाग्रत् लगती है।'

जो सुषुप्तिमें नहीं है, वह कहीं नहीं है। सुषुप्ति अवस्थामें जो मिट जाता है, उसका अस्तित्व है ही नहीं।

- **संगति**

अन्तमें दो प्रकारसे विचार किया जाता है—

१. जिस वस्तुका हम साक्षात्कार करना चाहते हैं, उसका क्या स्वरूप है ?

२. हम अपनेको कैसी अवस्थामें करेंगे तो उसका साक्षात्कार होगा ? हमारे अन्तःकरणकी किस दशामें अन्तःकरण कैसा हो तो उसका साक्षात्कार होगा ?

आप बाहर किसी वस्तुको देखकर नेत्र बन्द कर लो तो भीतर भी वही दीखेगी। पहिले बुद्धिसे वस्तुको समझ लो तो बुद्धि

तदाकार भासने लगेगी। यदि बिना समझे भीतर देखेंगे तो संसार जैसा बाहर देखा है, भीतर भी वैसा ही लगने लगेगा।

दूसरी बात है कि अपने अन्तःकरणको शुद्ध करो। अपना अन्तःकरण संसारकी गन्दी वस्तुओंको याद करके गन्दी शक्लका हो गया है। यह गन्दगी दूर करनी होगी। आप यह मत समझना कि हम गन्दे अन्तःकरणसे ही परमात्माको पकड़ लेंगे—

सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। (मुण्डकोपनिषत्)

भूतसे जो तुम्हारी प्रीति है, उसे छोड़ दो। परमात्मा सर्वसत्य वस्तु है। भूतका परित्याग करनेपर ही सत्यका साक्षात्कार होगा। अतः सत्यसे प्रेम होना चाहिए और असत्यका त्याग होना चाहिए।

तुम्हारी दृष्टिमें जो-जो असत्य है, उसे छोड़ते जाओ। जो-जो सत्य है, उसे पकड़ते जाओ। यदि तुम संसारकी कोई असत्य वस्तु पकड़कर रख लोगे, उससे प्रेम करोगे तो सत्यकी प्राप्ति नहीं होगी।

जिसका असत्यसे ही काम चल रहा है, उसे सत्यकी आवश्यकता भी क्या है? अतः हमारी बुद्धिका प्रेम (पक्षपात) असत्यसे नहीं होना चाहिए।

पहिले बोलनेमें असत्यका त्याग करो। फिर सोचनेमें असत्यका त्याग करो। फिर करनेमें असत्यका त्याग करो।

एक महात्मा कहते हैं—'दूसरेकी दृष्टिकी बात नहीं है। दूसरेकी दृष्टि उधार नहीं मिल सकती। तुम्हें तुम्हारी ही दृष्टिमें जो असत्य लगता है, उसे छोड़ो। तुम अपने विवेकके प्रकाशमें देखो कि सत्य क्या, असत्य क्या?'

'तपसा'—थोड़ा कष्ट सहना चाहिए। एक मनुष्यने नियम किया—'हम दूसरेकी बनायी रोटी नहीं खायेंगे।'

एक दिन अपने बनानेका सुयोग नहीं लगा तब उसने नियम छोड़ दिया। यह ठीक नहीं था। उस दिन जल पीकर या फल खाकर, दूध पीकर रहना चाहिए। जो थोड़ा कष्ट सहनेको तैयार नहीं, वह निष्ठावान् नहीं। अपने नियमको, व्रतको पूरा करनेके लिए कष्ट-सहनकी थोड़ी क्षमता मनुष्यके जीवनमें होनी चाहिए।

सत्य क्या है? इसके ज्ञानके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसमें सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य आवश्यक है। परमात्मा दूर नहीं है। तुम्हारे भीतर परमात्मा बैठा है। शरीर रूपी घड़ेके भीतर एक आकाश है जो ज्योतिर्मय है 'विशोका वा ज्योतिष्मती'- उसमें कोई दुःख, शोक कोई जड़ता नहीं है। उसमें न बुढ़ापा है— न मृत्यु है।

'यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।' दोषरहित होकर महात्मा अपने हृदयमें उसका दर्शन करते हैं। मल-दोष, विक्षेप-दोष, आवरण-दोष—सारे दोष जब भंग हो जाते हैं, तब महात्मा इसका दर्शन करते हैं। उसका विचार करनेको यहाँ कहते हैं—

मनोऽहंकृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम्।
अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा॥ १२॥

मन और अहंकारका उपादान कारण जड़ात्मक जो लिंगदेह है, वही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको प्राप्त होता है और उसीका नाम जन्म-मरण होता है।

मन है वृत्ति और अहंकार है वृत्तिमान्। मन है करण और अहंकार है कर्ता; परन्तु हैं ये दोनों ही वृत्ति अर्थात् व्यवहार। 'अहमस्मि' यह भी वृत्ति है और 'यह है' यह भी वृत्ति है। शारी-

रिक एवं मानसिक—दोनों ही व्यवहारोंको वृत्ति कहा जाता है। व्यवहारके करणको अन्तःकरण या बहिःकरण कहते हैं। व्यवहारमें जो कर्ता है, उसे अहंकार कहते हैं।

यह वृत्ति-वृत्तिमद्भाव-वृत्ति और वृत्तिमान्पना दोनों सुषुप्तिकालमें लुप्त हो जाते हैं; किन्तु इनका बीज रहता है। उस बीजको ही अविद्या मानते हैं।

'जडात्मकम्'—वही वृत्ति और वृत्तिमान्—मन और अहंकार दोनोंका बीज—मूल कारण है। एक है साक्षी और एक है अज्ञानात्मक-जड़ात्मक; जिसमें अहंकार और इदंकार सोता-जागता है। वह जड़ लिंग शरीर है। आत्माकी जो ये तीनों अवस्थाएँ मालूम पड़ती हैं, तीनोंमें ही यह जड़ शरीर, लिंग शरीर अज्ञातरूपसे अनेक होता रहता है।

तीनों अवस्थाओंमें आत्मा ही आता-जाता रहता है, यह हम समझते थे। जाग्रत्में आत्मा जाग्रत्को देख रहा है, स्वप्नमें आत्मा स्वप्नको देख रहा है और जब जाग्रत्-स्वप्न दोनों अवस्थाएँ बीज दशामें पहुच गयीं तो उस अज्ञान दशाको भी आत्मा देख रहा है। देखनेवाला आत्मा है। केवल ऐसा नहीं है। एक वस्तु और है जो तीनों अवस्थाओंमें जाती है। 'यह सुषुप्ति मेरी है, यह स्वप्न मेरा है, यह जाग्रत् मेरा है'—यह मेरापन सब दुःखोंका मूल है और 'मैं-पना' कि—'मैं धनी-गरीब, ब्राह्मण-संन्यासी आदि हूँ' इनका बीज सुषुप्तिमें रहता है, भासता नहीं। जब तक यह अज्ञान बना रहेगा, तब तक मनुष्य जन्म-मरणसे नहीं छूटेगा। इसीको मिटानेके लिए द्रष्टा-दृश्यका विवेक कर रहे हैं।

जब शरीर बदलता है, तब जड़-बीजात्मक अज्ञान जिसमें स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनोंका बीज रहता है, वह बीज रह जाता है। सोकर उठने पर सब स्मृतियाँ ज्यों-की-त्यों रहती हैं।

जैसे कोई जादूका वृक्ष हो—एक समय फैलकर वृक्ष-पत्ते, फल-फूल-युक्त दीखे और एक समय सिमटकर बीज हो जाय। सुषुप्तिके समय बीजरूपमें रहता है और जाग्रत्-स्वप्नके समय फैल जाता है।

अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा।

आप जागते हैं तो स्वप्नकी स्मृति रहती है; किन्तु स्वप्नमें अपने जाग्रत्की स्मृति नहीं आती। जाग्रत्को जाग्रत्में छोड़कर स्वप्नमें जाना पड़ता है। जैसे हम मर्त्यलोकमें तो स्वर्गको याद करते हैं, पर स्वर्गमें मर्त्यलोककी याद नहीं आती।

स्वप्न कुछ है, तब जाग्रत्में उसकी याद आती है। स्वप्नकी दृष्टिसे जाग्रत् है ही नहीं। सुषुप्तिमें जाग्रत्-स्वप्न-दोनोंकी याद नहीं आती; किन्तु स्वप्नमें 'मैं सोया था या सो जाऊँ' यह याद आती है। जाग्रत्में सुषुप्तिकी याद आती है।

'जायते-म्रियते तथा'—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके ही समान लिंग-शरीर ही जन्मता-मरता है। जादूगरका खेल जैसा होता है, इस प्रकार यह संसारका खेल हो रहा है।

● **संगति**

यह जादूका खेल कैसे चल रहा है? इसका विवेचन करते हैं—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ॥१३॥

मायाकी दो शक्तियाँ हैं—विक्षेपरूपा और आवरणरूपा। इसमें विक्षेपशक्ति लिंग शरीरसे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत्की सृष्टि करती है।

मायाकी दो शक्तियाँ हैं; लेकिन माया ही कल्पित है तो उसमें शक्तियाँ भी कल्पित ही हैं।

१. विक्षेपशक्ति परमात्मामें जगत् दिखलाती है।

२. आवरणशक्ति जीवका स्वरूप ढककर इस विक्षेपमें 'मैं-मेरा' दिखा देती है।

एक अद्वय परमात्मामें सृष्टिको दिखलाना विक्षेपशक्ति है। परमात्मामें आवरण नहीं है। परमात्मामें विक्षेप-चञ्चलता-स्फुरणाके रूपमें जगत् दीख रहा है। उन्हीं स्फुरणाके कणोंको 'मैं-मेरा' मान लेना आवरण है। समुद्रमें एक तरंग उठी। उसमें-से कुछ बूँदे छिटकीं। तुमने उस बूँदके एक सीकरको 'मैं-मेरा' मान लिया।

यह धरती हवाई जहाजकी भाँति है—जिसपर हम लोग चढ़े हैं। यहाँ किसीसे प्रेम करोगे तो रोना पड़ेगा। इसमें कोई न मेरी सम्पत्ति है, न 'मैं' नामकी ही कोई वस्तु है। यह द्रष्टा यात्री है।

ईश्वरने तुम्हारे सामने यह एक सिनेमा प्रकट कर दिया है। यह विक्षेप-चञ्चलता रूप शक्तिका खेल है। इस रूपमें स्वयं अपनेको ही ईश्वरने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। इसमें आवरण-शक्ति 'मैं-मेरा' बनाती है। यह आवरण केवल जीवमें होता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

बलहीन पुरुषको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। अतः जानना चाहिए कि बल क्या है?

पहिला बल यह कि वह अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों और अपने मनपर अधिकार रखे; क्योंकि आवरण शक्तिके कारण इन्हींमें 'मैं-मेरा'पना बैठा है। यह न हो सके तो—

'निर्बलके बल राम!'

अर्थात् विश्वासका बल हो। दुर्बल मनुष्य कहीं टिक नहीं सकता। उसपर कोई विश्वास नहीं करेगा।

चरित्रबल हो, इन्द्रियबल हो, मनोबल हो, विचारबल हो। जिनके भीतर दृढ़ता, समझदारी और सन्तुष्टि नहीं है, वे परमात्माको पा नहीं सकते। अपने साधनमें दृढ़ता, समझदारी और सन्तुष्टि होनी चाहिए। दृढ़ता सत्से निकलती है। प्रकाश-समझदारी चित्से और सन्तुष्टि आनन्दसे निकलती है। फिर अपने साधनसे ऐसे एक अद्वय हो जाना चाहिए कि हम साधन करते हैं, यह पता न लगे। सहज स्वभावसे ही साधन होने लग जाय। साधनमें सच्चिदानन्द अद्वयकी अभिव्यक्तिका नाम आत्मबल है।

अभयं ह वै ब्रह्म।

निर्भयताका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म-साक्षात्कारका यह फल है कि मनुष्यके जीवनमें निर्भयता आजाय। संसारमें शत्रु-मित्र बनाओगे तो भय होगा। कोई वस्तु संसारमें बनाना चाहोगे तब भी भय होगा और मिटाना चाहोगे तब भी भय होगा। यथास्थितिको स्वीकार करो। ब्रह्म अभयपद और साधन भी अभयपद है।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।—गीता

दैवी-सम्पत्तिमें पहिली वस्तु है निर्भयता। भगवान्‌के मार्गमें बढ़ना है तो आत्मबल और निर्भयता आवश्यक है। ईश्वर तुम्हारा सहायक है। कोई तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता। तुममें निषेधका बल होना चाहिए।

साधन बलका हेतु है। अतः शास्त्रमें कहा गया—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः,
समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति।

तुम अपने आपमें अपने आपको देखो; परन्तु तुम्हारे पास बल चाहिए—शान्तिका, मनोनिग्रहका, इन्द्रियनिग्रहका, कर्म करने और कर्मत्यागसे स्वातन्त्र्यका, कष्ट सहनका, एकाग्रताका, अपने साध्य-पर, साधनपर और उपदेष्टापर श्रद्धाका बल चाहिए। इस बलसे सम्पन्न होकर विवेक करो।

माया दो रूप धारण करती है—एक अपनेको ढँककर अपनेमें पहिले 'अहं' बनाती है, फिर मनुष्य बनाती है। दूसरे जगत्को देश-काल-वस्तुके विषयमें विक्षिप्त कर देती है।

स्वप्नमें भी संसार बहुत बड़ा होता है। वह चित्तका विक्षेप है। शान्त मनमें प्रपञ्च दीख ही नहीं सकता। मन चञ्चल होता है तब संसार दीखता है। जैसे फिल्मकी मशीन चालू कर देनेपर दृश्य दीखता है। मशीन बन्द कर देनेपर दृश्य नहीं दीखता। दृश्य पर्देपर नहीं, दृश्य फिल्ममें है। पहिले आवृत्ति है अर्थात् अपने ब्रह्मत्वका आवरण होकर 'मैं' और 'यह' बना। 'मैं' अहंकार है और 'यह' मन है। मनकी चञ्चलतासे सारा दृश्य दीखता है।

'लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्'—यह मायाकी आवरण और विक्षेप-शक्ति लिंग शरीरसे लेकर समग्र ब्रह्माण्ड दिखा रही है। अविद्यासे आवृत अपने स्वरूपमें भासमान मन स्वप्नवत् इस सृष्टिको दिखा रहा है। इस सिनेमामें पर्दे भी हम हैं और प्रकाश भी हम हैं।

● **संगति**

जब 'तत्' पदार्थके विचारमें लगते हैं तो प्रश्न उठता है—सृष्टि क्या है? जहाँ इन्द्रियोंकी, मनकी, बुद्धिकी पहुँच नहीं है, उस अनन्त अद्वितीयको जाननेके लिए वेदान्त पहिले अध्यारोप

करके फिर उसका अपवाद कर देता है। जो आरोप करनेके पहिले है और निषेध करनेके बाद रह जाता है, वह अद्वितीय है।

जादूके खेलमें होता कुछ नहीं; परन्तु जादूगर अपनी अचिन्त्य रचना-शक्तिसे अपने आपमें भी और बाहर भी बहुत-सी वस्तुएँ दिखा देता है। अद्वितीय परमात्माने भी ऐसे ही मायासे यह सब प्रपञ्च दिखा रखा है। जैसे स्वप्नमें आप ही स्वयं पूरा संसार बनाते हैं और स्वयं देखते हैं।

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत्सर्वनामरूपप्रसारणा ॥१४॥

ब्रह्मरूप सच्चिदानन्द वस्तुमें नाम-रूपकी प्रसारणाको सृष्टि कहते हैं। यह सब समुद्रमें फेनके समान है।

समुद्रका फेन हम लोग धनुष्कोटिसे ले आये थे। वह सूखकर जमा फेन पत्थर जैसा कठोर होता है; लेकिन पानीपर तैरता है। वह फेन पानीके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है। विचार करें तो यह पृथिवी भी पानीका ही एक रूप है।

समुद्रमें जैसे फेन, तरंग, बुलबुले होते हैं, ऐसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपमें यह सृष्टि तरंग, फेन, बुलबुलेके समान हैं।

'सर्वनामरूपप्रसारणा'—सब नाम और सब रूप एकका ही प्रसार है। सारी सृष्टि ही ब्रह्मरूप है।

एक व्यक्ति कहता है—'आत्म-साक्षात्कार करना चाहिए।'

दूसरा व्यक्ति कहता है—'ईश्वरका दर्शन करना चाहिए।'

तीसरा व्यक्ति कहता है—'समाधि लगानी चाहिए।'

चौथा व्यक्ति कहता है—'ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए।'

यह चारोंकी लड़ाई मूर्खोंकी लड़ाई है। उन्होंने शब्दको सच्चा

मानकर पकड़ा। आत्मा, समाधि, ईश्वर, ब्रह्म—कुछ कहो, वह जो परम अविनाशी परिपूर्ण लक्ष्य है, वह तो एक ही है। जैसे कोई पानी माँगे, कोई वाटर माँगे और दोनों लड़ें—ऐसी ही लड़ाई है। वस्तुतः ब्रह्मका ही नाम ईश्वर है। ईश्वरका ही नाम समाधि है और ब्रह्म है। इन्हींका नाम आत्मा है। हमारे जीवनका जो परम लक्ष्य है परम ज्ञानस्वरूप, परमानन्द स्वरूप, अविनाशी सत्य, उसीको कोई कैवल्य कहते हैं, कोई आत्मज्ञान, कोई ब्रह्मज्ञान, कोई ईश्वर-प्राप्ति और कोई समाधि कहते हैं। झगड़ा करनेवाला नाम-रूपका प्रेमी है। वह एक नाममें आग्रह करके बैठा है। उसे यथार्थ ज्ञान नहीं है।

अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान रखना चाहिए, फिर उसका नाम कुछ भी हो। मुसलमान उसे खुदा कहें, ईसाई उसे गॉड कहें—परन्तु ये अविनाशी तत्त्वको ही तो खुदा या गॉड कहते हैं या नहीं? जब तत्त्वकी पहिचान एक ही है तो उसका नाम अलग-अलग होनेसे क्या अन्तर पड़ता है? नाम-रूपमें आग्रह करके जब तक लड़ाई रहे, तब तक समझना कि ज्ञान नहीं है।

'सर्वनामरूपप्रसारणा'—जैसे कपड़ा चाहे बहुत चौड़ा हो या कम, पर सूतसे ही बना है—सूत ही है, फिर वह किसी भी रंगका हो। ऐसे ही नाम चाहे कुछ हो और रूप चाहे कुछ हो, सबका-सब एक ही वस्तुका प्रसार है।

संगति

एक प्रश्न उठता है कि समुद्र जड़ है। उसके ऊपर अवकाश है। उसकी एक आयु है। उसमें फेन, तरंग, बुलबुले हो सकते हैं। समुद्रमें भीतरके दबावसे ज्वार आता है। वायु लगनेसे तरंगें उठती

हैं। जल-धाराएँ परस्पर टकराकर मैल ऊपर कर देती हैं तब फेन बनता है। केवल जलमें यह सब नहीं होता। फेन-तरंग बननेके लिए वायु चाहिए और जलके ऊपर स्थान चाहिए। तब क्या परम ब्रह्म परमात्मामें भी ज्वार लानेवाला, तरंग उठानेवाला, फेन बनानेवाला कोई वायु है ? उसमें कोई मैल है ? कोई अवकाश है ? यह परमात्मामें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, हिरण्यगर्भ, प्रकृति कहाँसे आये ?

जड़ वस्तुमें परिवर्तन होगा तो एकसे दूसरी अवस्था कालमें आयेगी। तब क्या परम ब्रह्म परमात्मामें भी काल है ? क्या परमात्मा भी परिवर्तनशील द्रव्य है ?

जो वस्तु रूपान्तरित होगी, वह चेतन नहीं हो सकती। परिवर्तनका साक्षी चेतन होता है। तुम अपनेको जो ठीक नहीं पहिचानते हो, उस न पहिचाननेका—अविद्याका यह विलास है।

अविद्यासे आयु नहीं होती। अविद्यासे आयुकी कल्पना होती है। अविद्यामें लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। अविद्यासे लम्बाई-चौड़ाईकी कल्पना होती है। अविद्यामें वजन नहीं होता। अविद्यासे वजनकी कल्पना होती है।

किसकी अविद्या ?

ब्रह्मकी अविद्या। अपने आपसे पृथक् ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म होता ही वह है जो आत्मासे पृथक् न हो। अपना आपा होनेसे उसका चेतन होना स्वतःसिद्ध है। तब वह परिवर्तनशील नहीं हो सकता। उसमें परिवर्तन भास रहा है। यह परिवर्तन अपने आपको अद्वितीय न जाननेसे भास रहा है। अपने आपको परिच्छिन्न, मनुष्य, ब्रह्मादि विशेषण लगाकर सब जानते हैं, इससे भास रहा है।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपराशक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥१[illegible]॥

दूसरी शक्ति भीतर द्रष्टा और दृश्यके भेदको तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको जीवको आवृत करके दिखाती है। यही संसारका—जन्म-मरणका कारण है।

अविद्या भीतर तो द्रष्टा-दृश्यका भेद बना देती है। अपने आपको अद्वितीय ब्रह्म न जानना ही भीतर द्रष्टा-दृश्यको कल्पना कर देता है और बाहर सृष्टि दिखा देता है कि इसमें कहीं ब्रह्म छिपा है। इस प्रकार बाहर अधिष्ठान-अध्यस्तका भेद हो गया।

आत्मा है—यह सबको ज्ञात है। आत्मा जाननेवाला है, यह भी सबको ज्ञात है। आत्मा प्यारा है, यह भी सब जानते हैं। अर्थात् आत्माकी सच्चिादानन्दरूपता तो विचारवान् पुरुषको अपने आप ज्ञात है; किन्तु यह सच्चिदानन्द आत्मा ब्रह्म है, ऐसा नहीं दीखता। 'मैं हूँ' यह सबको मालूम होता है, परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सबको नहीं मालूम पड़ता। वेदान्त बतलाता है कि एक अद्वितीय ब्रह्म है और वही तुम हो।

'आवृणोत्यपरा शक्तिः'—ज्ञान सबको क्यों नहीं हो जाता? इसलिए कि आवरण-शक्ति है—पर्दा पड़ा है। पर्दा देखनेवालेके नेत्रपर होता है। जैसे बादल आनेसे सूर्य ढँक जाता है तो बादल सूर्यपर नहीं आता। सूर्य तो हजारों स्थानोंसे दीखता रहता है। वह छोटा-सा बादल केवल हमारे नेत्रोंके सामने आ गया और सूर्यका दीखना बन्द हो गया। ऐसी ही आवरण-शक्ति देखनेवालेके नेत्रोंको ढँक देती है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

सोनेके पात्रसे सत्यका मुख ढँक दिया गया है। हे ज्ञानके देवता ! हे गुरुदेव ! हे सूर्य ! इस पर्देको हटा दो, जिससे हमें आँख मिल जाय और हम सत्यका, धर्मका साक्षात्कार कर सकें।

हिरण्मयपात्र अर्थात् हिरण्यगर्भसे अधिष्ठित सूक्ष्म शरीरके ढक्कनने सत्यको ढँक दिया है। अर्थात् हमारे सूक्ष्म शरीरकी कल्पनाएँ सत्यको छिपा देती हैं।

'तत्त्वं पूषन्नपावृणु'—हे पूषा देवता—हे पोषण करनेवाले, हे अपनी सत्तासे अन्तःकरणको सत्तावान् बनानेवाले आत्मदेव ! इस पर्देको तुम फाड़ दो।

आवरण गाढ़ा क्यों है ? इस विषयमें श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य दोनों एक ही बात कहते हैं—'तुम्हारा भोजन अशुद्ध हो गया है।'

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।

आहार—भोजन, देखना-सुनना, छूना-सूँघना—इन सबको शुद्ध करो।

एक पर्दा पड़ गया है हमारी बुद्धिपर। आप जादूका खेल देखो तो जादू दिखानेवालेकी बुद्धिपर कोई पर्दा नहीं होता। देखनेवालेकी बुद्धिपर पर्दा होता है। अज्ञानका स्वरूप यह है कि जिसमें होता है उसको ढँक देता है और माया या जादू उसको मूर्ख बनाता है—जो देखता है, मायावी-जादूगरको मूर्ख नहीं बनाता।

'अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं'—आवरणसे दो प्रकारकी मूर्खता सामने आयी। असत्त्वापादक आवरण और अभानापादक आवरण। पहिला—भीतर द्रष्टा-दृश्यकी विलक्षणता उत्पन्न कर देता है।

द्रष्टा-दृश्य तत्त्वतः एक हैं, परन्तु दोनोंमें लक्षणका भेद है। एक देखा जाता है और एक देखता है।

एक ही दृङ्मात्र ब्रह्मवस्तु है। वही दीख रही है और वही देख रही है। लेकिन उस ब्रह्मतत्त्वको समझनेके लिए दीखनेवाली वस्तुसे देखनेवालेकी विलक्षणताका ज्ञान होना चाहिए और यही ज्ञान ढँक गया है। द्रष्टा कर्मके साथ, भोगके साथ, देहके साथ, बुद्धि वृत्तिके साथ एक होकर अपनेको कर्ता-भोक्तादि मानने लगा है।

दूसरी मूर्खता यह सामने आयी कि मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश सब दीखता है, परन्तु जिसमें यह है, वह नहीं दीखता। कंकण, हार, कुंडल दीख गया, पर सोना नहीं दीखा।

मैं छोटा था। एक रात कोई काला कम्बल ओढ़कर पशुके समान हाथ-पैरोंसे चलता पास आने लगा। मैं बालक था, रो गया। पास बैठे सज्जनने पूछा—'रोते क्यों हो ?'

मैं—'वह क्या आ रहा है ?' मैंने रीछ नचानेवालोंके पास रीछ देखा था। वह वस्तु भी वैसी ही दीखती थी।

उस सज्जनने कहा—'वह तो तुम्हारे चाचा तुम्हें डरानेको कम्बल ओढ़े हैं।'

फिर तो मैं दौड़कर उनकी पीठपर चढ़ गया। यह संसार न पहिचाना हुआ रीछ है। यह नाम-रूपका कम्बल ओढ़े ब्रह्म-चाचा ही हैं।

भीतर जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसे यह आवरण-शक्ति सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता बना देती है अर्थात् अपनी ब्रह्मता आवृत हो गयी है। बाहर नाम-रूपको दिखाती है और ब्रह्मताको ढँक दिया गया है।

आवरण-शक्तिके कारण सत्यकी पहिचान नहीं हो रही है। 'ब्रह्म नहीं है—संसार ही है' यह असत्त्वापादक आवरण है। 'ब्रह्म होगा, परन्तु हमें प्रतीत नहीं हो रहा है' यह अभानापादक आवरण है।

● संगति

ये आवरण किसपर हैं? ब्रह्मपर तो कोई आवरण हो नहीं सकता।

आवरण जीवपर है।

जीव क्या है?

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम्।
चितिच्छाया समावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः॥१६॥

साक्षीके सामने भासता हुआ लिंग शरीर देहके साथ है, वह चेतनकी छायाके समावेशसे व्यावहारिक रूपमें जीव कहा जाता है।

यह देह है। इस देहके भीतर लिंग शरीर है। लिंग शरीर साक्षीके सामने भास रहा है। चेतनकी जो छाया (आभास) लिंग शरीरमें पड़ी तो विवेक खो जानेके कारण स्थूल शरीर, लिंग शरीर, चेतन और उसकी छाया, इन चारोंको मिलाकर व्यावहारिक जीव होता है अर्थात् व्यवहारमें इसीको जीव कहते हैं।

● संगति

ऐसा लगता कम ही है। पृथक्-पृथक् देहमें पृथक्-पथक् साक्षी लगता है और वही जीव है, ऐसा प्रतीत होता है।

अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत्॥१७॥

इस (स्थूल शरीर, लिंग शरीर, चेतनकी छाया)के जीवभावका आरोप साक्षीमें भी भासता है; परन्तु आवरण नष्ट हो जानेपर भेदसे प्रतीत होनेवाला वह जीवभाव जाता रहता है।

पृथक्-पृथक् देहमें पृथक्-पृथक् साक्षी होनेका भ्रम देह एवं अहंकारको 'मैं-मेरा' माननेसे होता है। यही अविद्या है, आवरण है। अहंकारमें अविद्याके कारण चेतनत्वका भ्रम होनेसे साक्षीमें भी जीवभावका भ्रम भासने लगता है। लेकिन जब अविद्या-आवरण नष्ट हो जाता है, अपनी अद्वितीयता जान ली गयी, तब साक्षी अद्वितीय दृङ् मात्र है, यह बोध हो गया। तब साक्षीमें भेदका भ्रम नष्ट हो जाता है।

इस बातको उधरसे बैठकर सोचो ही मत कि ब्रह्ममें आभास कहाँसे आया। आभाससे लिंग शरीर और लिंग शरीरसे स्थूल शरीर कैसे बना। यह सोचनेकी पद्धति नहीं है।

तुम इस समय देह बनकर बैठे हो, अतः यहाँसे सोचो कि इस देहके भीतर सूक्ष्म शरीर है। उस सूक्ष्म शरीरमें जो शुद्ध चेतनका आभास पड़ रहा है, उससे जीवत्व बन रहा है। शुद्ध चेतन इससे न्यारा है। शुद्ध चेतनमें देश, काल, वस्तु नहीं है। इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। मैं छाया-चैतन्य नहीं हूँ—शुद्ध चैतन्य हूँ।

जब अपनेको शुद्ध चैतन्यके रूपमें बैठा दोगे तो देखोगे कि तुम्हारी छाया नहीं पड़ती। लिंग शरीर और स्थूल शरीर बिना हुए हो भास रहे हैं। जगत् बिना हुए भास रहा है। तुम्हारा साक्षी स्वरूप साक्षात् ब्रह्म है।

आरोपित जीवत्व साक्षीमें भासता है अर्थात् साक्षी अपनेको जीव ही समझता है; क्योंकि वह अपनेको 'मैं मरता हूँ—जन्मता हूँ, जाता-आता हूँ, पापी-पुण्यात्मा हूँ, सुखी-दुःखी हूँ' यह मानता है।

जब आवरण नष्ट हो जाता है और विवेक हो जाता है कि द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता तब जीवत्वकी भी निवृत्ति हो जाती है।

● संगति

जैसे आवरण शक्तिके कारण निर्विकार साक्षीमें जीवत्व भासता है, वैसे ही बाहर निर्विकार ब्रह्ममें जगत् भासता है।

तथा सर्गं ब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति।
या शक्तिस्तद्वशाद् ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥१८॥

इसी प्रकार जो शक्ति सृष्टि और ब्रह्ममें भेद करके स्थित है, उसके कारण ब्रह्म विकारी जैसा भासता है।

यही आवरण-शक्ति जो देह और आत्माके भेदको ढँक देती है, वही संसार और ब्रह्मके भेदको—वैलक्षण्यको भी ढँक देती है। अधिष्ठान और अध्यस्तकी विलक्षणताको भी वही ढँक देती है।

जब अध्यस्त-अधिष्ठानका भेद समझमें नहीं आता है, तब यह आवरण-शक्ति अपना काम करती है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म ही संसार बन रहा है। ब्रह्म ही सुखी-दुःखी हो रहा है। यह ब्रह्म ही जड़-चेतन बन रहा है। यह भेद जो दृश्यमें, प्रपञ्चमें है, परमात्मामें कल्पित हो जाता है। यहाँ भी जब आवरणका नाश हो जाता है, तब इससे विलक्षण अधिष्ठान है, यह बात मालूम पड़ जाती है। जितने भी विकार होते हैं वे सबके-सब दृश्यमें होते हैं, अपनेमें नहीं होते।

● संगति

यह विवेक होनेपर क्या होता है?

अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः।
भेदस्तयोर्विकारं स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥१९॥

यहाँ पर भी आवरणका नाश होनेसे ब्रह्म और सृष्टिका भेद-

ज्ञान होता है कि विकार उन दोनोंमें-से सृष्टिमें ही है, ब्रह्ममें सर्वथा नहीं है।

अनन्तको न जाननेके कारण हमको पृथिवीका माप मालूम पड़ता है। पृथिवीसे तेरह लाख गुना बड़ा सूर्य है और आकाशमें कई अरब-खरब सूर्य हैं। उस आकाशकी दृष्टिसे पृथिवीका नाम-रूप कुछ नहीं लगेगा। हम शरीरकी दृष्टिसे देखते हैं तो पृथिवी बड़ी लगती है।

इसका बड़ा महत्त्व है कि आप अपने 'मैं' को कहाँ रखकर सोचते हैं। अनन्त कालमें यह पृथिवी कितनी देर तक है ? अनन्तमें अंश सम्भव नहीं है। अनन्तके विस्तारमें पृथिवीकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी ? अनन्तके भारमें पृथिवीका भार कितना ? देहकी ओरसे देखते हैं तो सारे भेद-विभेद मालूम पड़ते हैं; किन्तु जब अनन्तकी ओरसे देखते हैं तो सारे भेद-विभेद मिट जाते हैं। जब अपनेको अनन्तसे तादात्म्यापन्न करके देखते हैं तो दूसरी कोई चीज दीखती ही नहीं है।

इसकी दो प्रणालियाँ हैं—एक लय-प्रक्रिया और दूसरी बाध-प्रक्रिया है—

शरीर पञ्चभूतसे एक है। पञ्चभूत सूक्ष्म पञ्चभूतसे एक है। सूक्ष्म पञ्चभूत अहंकारसे एक है। अहंकार बुद्धिसे एक है। बुद्धि शान्तिसे एक है। शान्ति अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मसे एक है। यह लय प्रक्रिया हुई।

पहिले महावाक्यसे बोध हुआ कि आत्मा अनन्त ब्रह्म है। अनन्त ब्रह्ममें माया कहाँ ? माया नहीं तो चिदाभास कैसा ? माया ही नहीं तो महत्तत्त्व कहाँ ? महत्तत्त्व नहीं तो अहंकार कहाँसे आया ? अहंकार नहीं तो पञ्चतन्मात्रा कैसी ? पञ्चतन्मात्रा नहीं

तो पञ्चभूत किधर ? पञ्चभूत ही नहीं तो देह कहाँ ? 'यह बाध-प्रक्रिया है । इसमें तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे अपनेको ब्रह्मरूप जानकर अपनेमें प्रपञ्चका होना बाधित कर देते हैं । अपना स्वरूप ही सब है ।

अपनेको देह मानकर ब्रह्म तक पहुँचना और अपनेको ब्रह्म जानकर सबको बाधित कर देना, यह दो प्रक्रिया है ।

'भेदस्तयोः'—घड़ा काला भी होता है, लाल भी । उसमें पानी भरकर कहीं ले भी जा सकते हैं । उसमें शराब भरें तो वह अपवित्र हो गया, गंगाजल भरें तो पवित्र हो गया; किन्तु मिट्टीकी दृष्टिसे देखो तो यह सब कोई बात मिट्टीमें नहीं है । घड़ा फूटकर मिट्टीमें मिल गया तो उसमें न शराब, न गंगाजल, उसमें न पवित्रता, न अपवित्रता, उसमें न संस्कार, न लेकर जाना-आना ।

घड़ा फूट जानेपर जो मिट्टीका स्वरूप होता है, घड़ा रहनेपर भी घड़ेमें रहनेवाली मिट्टीका वही स्वरूप है । मिट्टी सच्ची है, घड़ा कल्पित है ।

• संगति

ब्रह्म है परन्तु भासता नहीं और वस्तुएँ नहीं हैं पर भासती हैं—इसीको माया कहते हैं ।

न कुछ उत्पन्न हुआ, न कुछ मरा, न कुछ आया, न गया; पर इस मायामें—जादूके खेलसे मृत्यु-वियोग सब भास रहा है । इस अद्वितीय दृष्टि—तात्त्विक दृष्टिको प्राप्त करनेके लिए श्रवणकी आवश्यकता पड़ती है । श्रवण किस प्रकार करना, यह बतलाते हैं—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥२०॥

अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम ये पाँच ही वस्तुएँ हैं। इनमें पहिली तीन ब्रह्मरूप हैं और शेष दो जगद्‌रूप हैं।

संसारमें जहाँ भी कोई वस्तु भासती है, व्यवहार होता है, वहाँ पाँच बातें अवश्य होती हैं। बिना पाँच बातोंके व्यवहार नहीं हो सकता—

१. वस्तु है। २. वह मालूम पड़ती है। ३. प्रिय है। ४. उसका कोई रूप है। ५. उसका कोई नाम है। मनमें भी कोई वस्तु आती है तो उसमें भी ये पाँचों बातें होती हैं। जैसे घड़ा है। घड़ा मालूम पड़ता है। घड़ा कामकी वस्तु है। घड़ेका एक आकार है। घड़ा नाम है—तब घड़ा व्यवहारके योग्य है। कपड़ा है। कपड़ा मालूम पड़ता है। कपड़ा प्रिय है। कपड़ेका रूप है। कपड़ा नाम है—तब कपड़ेका व्यवहार हो रहा है।

एक वस्तुको दूसरीसे अलग समझनेके लिए नाम होता है और अलग दिखानेके लिए रूप होता है। नाम और रूप ही वस्तुओंको अलग-अलग दिखाते हैं। होना, भासना, प्रिय होना प्रत्येक वस्तुमें स्वाभाविक होता है।

एक सिद्धान्त तो यह है—कि पहिले वस्तु है, फिर मालूम पड़ती है। जड़से चेतनकी उत्पत्ति हुई। कोई वस्तु है, उसमें प्रकाश नहीं था। वह प्रकाशित हुई। यह चार्वाक, मार्क्स, हैकले आदि जड़वादियोंका मत है।

और दूसरा सिद्धान्त है—वस्तु मालूम पड़ी, फिर है। चेतनसे जड़की उत्पत्ति हुई। ईश्वर पहिले था, उसने अस्तिको बनाया।

वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, ईसाई, मुसलमान, सिख आदि सब धर्म इसे मानते हैं।

तीसरा मत है—न जड़ने चेतनको बनाया, न चेतनने जड़को बनाया। दोनों सदासे हैं। यह द्वैतमत है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा यह मानते हैं।

चौथा बौद्ध मत है—न जड़ है, न चेतन। शून्यमें दोनों परस्पर सापेक्ष भासते हैं। शून्य भी सापेक्ष ही है।

पाँचवाँ मत है—जड़-चेतन दोनों दो नहीं हैं—एक हैं। इनमें दोपना भासता है—मिथ्या है। इसकी अद्वितोयता सत्य है। यह अद्वैत वेदान्त है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

एक अद्वितोय सत्ता ही परिपूर्ण है। दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जड़ और चेतन दो नहीं हैं। जड़का मन्थन करें तो चेतन निकल आता है। चेतनका मन्थन करें तो जड़ हो जाता है।

जहाँ निराकार सत्ता है, वहाँ चेतनसे भिन्न नहीं है। जहाँ निराकार चेतन है, वहाँ सत्तासे पृथक् नहीं है। नाम-रूपसे रहित सत्ता चेतन आत्मासे पृथक् नहीं है। नाम-रूपसे रहित चेतन सन्मात्र है, निष्क्रिय है, निराकार है, निर्विकार है, निर्धर्मक है, ब्रह्म है। अतः जो सन्मात्र है, वही चिन्मात्र है। जो चिन्मात्र है, वही सन्मात्र है। सन्मात्र और चिन्मात्रमें भेद नहीं है।

'जगद्रूपं ततो द्वयम्'—जितने भेद हैं वे नाम-रूपके हैं। नाम-रूपका अपवाद करके अस्ति, भाति, प्रिय ये पृथक् नहीं हैं। आत्मा-परमात्मा पथक्-पृथक् नहीं हैं। जड़-चेतन पृथक्-पृथक् नहीं हैं। भूत-भविष्य अलग-अलग नहीं हैं; क्योंकि वर्तमानको विभाजक रेखा ही नहीं है। केवल नाम-रूपके कारण ही चेतन और जड़

पृथक्-पृथक् भासते हैं। भूत-भविष्य पृथक्-पृथक् मालूम पडते हैं। नरक-बैकुण्ठ पृथक्-पृथक् लगते हैं। नहीं तो निराकार परमेश्वर तो जैसा बैकुण्ठमें है, वैसा नरकमें भी है। स्वर्गको वह संचालित करता है तो क्या नरकको दूसरे हाथ संचालित करते है? इसीसे भक्तोंको—

सरग नरक अपबरग समाना।
जहँ तहँ दीख धरे धनु बाना॥

—रामचरितमानस

भक्तोंको सर्वत्र अपना भगवान् दीखता है। ब्रह्मवादीको सर्वत्र ब्रह्म दीखता है।

नाम-रूपवाले बनकर हम बैठ गये और नाम-रूपवाली वस्तुओं-को देखते हैं। अपना नाम-रूप छोड़ें और जगत्के नाम-रूपको न देखें—एक बार अलग कर दें तो मालूम पड़ जायगा कि सब एक हैं।

एक बार देख लिया कि एक अद्वय वस्तु है जो आत्मासे भिन्न नहीं है, फिर प्रतीति रूपमें नाम-रूप भासते रहें। आवरण एक बार भंग हो जानेपर फिर विक्षेप-शक्ति अपना काम करती है। इसी अद्वय तत्त्वको अनेक रूपमें दिखलाती है तो नाम-रूपका भेद दीखने-भासनेपर भी नाम-रूपके भेदकी किंचित् भी सत्ता नहीं है।

सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र अपनी आत्मा ब्रह्म है और हमारा नाम-रूपवाला होना तथा ब्रह्मका नाम-रूपवाला होना—दोनों ही जहाँ बैठे हैं, वहाँसे दीखता मात्र है।

एक महात्मासे कोई कहता है—'यह हमें ऐसा लगता है।' तो वे कहते हैं—'हाँ, तुम जहाँ बैठे हो वहाँसे वैसा ही दीखता है।'

फोटो लेनेमें कैमरेका कोण जैसे वस्तुको अनेक प्रकारका दिखाता है, वैसे ही हम जब नाम-रूप धारण करके बैठते हैं— अपनेको ढँक लेते हैं, तब बाहर भी पर्देका नाम-रूप दीखता है। जब हम पर्देको फाड़ देते हैं, तब बाहर भी अनावरण तथ्य दीखता है।

● संगति

कपड़े और घड़ेका नाम अलग-अलग है—रूप अलग-अलग है, पर यदि दोनोंका नाम-रूप पृथक् कर दो तो कपड़ा भी मिट्टी है और घड़ा भी मिट्टी है। व्यवहारकी आवश्यकताके कारण इनके दो रूप और दो नाम हैं कि कपड़ा पहिनना है, घड़ेमें पानी रखना है।

जिसको परमात्माकी पहिचान करनी होती है, उसे नाम-रूपको एकबार अलग करके वास्तविकताको पहिचानना पड़ता है। सोना पहिचानना हो तो हार, कुंडल, कंगनका नाम-रूप छोड़कर शुद्ध स्वर्णकी परीक्षा करो।

खंवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी ॥२१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी तथा देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सब अभिन्न सच्चिदानन्द हैं। रूप और नामके द्वारा ही ये अलग-अलग हुए हैं।

बाहर जो वस्तुएँ दीख रही हैं, ये देखनेमें तो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी हैं। इनके नाम अलग-अलग हैं और रूप अलग-अलग हैं। देहकी दृष्टिसे देखो तो देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी

आदिके नाम अलग-अलग हैं और रूप अलग-अलग हैं; किन्तु नाम-रूपसे पृथक् जो सत्ता है, वह पंचभूतमें भी वही है और प्राणियोंके शरीरोंमें भी वही है। अस्ति, भाति, प्रिय एक ही है। केवल नाम-रूपका भेद होता है—अस्ति, भाति, प्रियका भेद नहीं होता।

● **संगति**

अब समाधिका प्रसंग प्रारम्भ करते हैं। मनुष्यको समाधि लगाना हो तो कैसे लगाये ?

उपेक्ष्य नाम-रूपे द्वे सच्चिदानन्दवस्तुनि।[1]
समाधिं सर्वदा कुर्यात् हृदये चाथवा बहिः ॥२२॥

नाम-रूपकी उपेक्षा करके सच्चिदानन्द-वस्तुमें सदा हृदयमें या बाहर समाधि लगावें।

अलग-अलग नामों और अलग-अलग रूपोंसे द्वेष या घृणा मत करो। इनकी केवल उपेक्षा कर दो। इनका नाम कहीं योरोपमें एक, अफ्रीकामें दूसरा, चीनमें तीसरा होगा। इन नामोंपर ध्यान मत दो। रूप कहीं काला, कहीं सफेद, कहीं पीला होता है, बड़ा या छोटा होता है। इस बातको भी छोड़ दो। पानीका नाम अनेक देशोंमें अनेक हैं, पर पानी तो एक ही है। पानी नीला या सफेद दीखता है तो क्या पानी अलग-अलग हो जाता है ? नाम-रूपके कारण जो भेद होता है, उस भेदको अपनी बुद्धिसे हटा दो। जो नाम-रूपसे रहित सत् ज्ञान है और आनन्द है—अस्ति, भाति, प्रिय हैं, उसके परायण हो जाओ। अब देखना हो तो समाधिका आनन्द देखो !

---

१. पाठभेद—सच्चिानन्दतत्परः।

'समाधिं सर्वदा कुर्यात्'—हम लोगोंसे कितने वर्षतक इस बातपर चर्चा करते थे कि तत्त्वज्ञानके लिए समाधिकी आवश्यकता है भी या नहीं ? हमारा कहना था कि यदि संसारमें कोई अनजानी वस्तु रह जायगी तो समाधिमें उसका पता कैसे लगेगा ?

घड़ा छोटा हो या बड़ा, भारतमें बना हो या योरोपमें, पर मिट्टीकी पहिचान तभी होगी जब नाम-रूपका निषेध होगा। नाम-रूपको हटाकर मिट्टीकी पहिचान की जायगी।

ब्रह्मज्ञानीको समाधिका बोध होगा या नहीं ?

घटाकार वृत्ति होनेसे घटका बोध होता है और समाध्याकार वृत्ति होनेसे समाधिका बोध होता है। समाधि तो एक विचारमें मनके लग जानेपर भी हो जाती है।

प्रश्न यह है कि समाधि क्या साक्षात् अज्ञानका नाश करती है ? समाधिमें अज्ञान-नाशकी सामर्थ्य है।

वेदान्ती कहते हैं—'समाधि लगाकर तुम यह देख लोगे कि संसार हममें कभी भासता है, कभी नहीं भासता तब समाधिसे उठनेपर जब विचार करोगे तब इस प्रज्ञाके द्वारा कि जो कभी भासता हो—कभी न भासता हो वह अध्यस्त होता है—संसारको अध्यस्त जानोगे और आत्माको अखण्ड, अद्वय जानोगे। इस ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अज्ञान निवर्तक तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य प्रज्ञाकी पुष्टिमें समाधि सहायक होती है। लेकिन प्रज्ञाको पुष्टि समाधिसे भी मिल सकती है और बिना समाधिके भी प्रज्ञाको पुष्टि मिल सकती है।

समाधि बाहर लगाना या भीतर ?

समाधि बाहर भी लग सकती है और भीतर भी। नाम-रूपका ख्याल छोड़ दो, समाधि ही है। अस्ति, भाति, प्रियके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु हो नहीं है।

● संगति

यह समाधि छः प्रकारसे लगायी जाती है। इसीका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

चित्तकी वृत्तिका निरोध समाधि है। वृत्तिका अर्थ है व्यवहार। जिस समय चित्त किसी प्रकारका व्यवहार नहीं करता—'यह-वह, मैं-तुम, घड़ा-कपड़ा'—ऐसा कोई भी व्यवहार जिस समय चित्तमें नहीं होता, उस व्यवहार रहित चित्तकी स्थितिका नाम समाधि है।

इस समाधिमें आवरण-भंग करने—अज्ञान-नाशकी सामर्थ्य तो नहीं है, परन्तु विक्षेप नष्ट करनेकी शक्ति इसमें है। समाधि नानात्व-दर्शनको मिटा देगी; किन्तु जिसके अज्ञानसे नानात्वका दर्शन हुआ है, उसका साक्षात्कार नहीं करा सकेगी।

यह प्रपञ्च—पाँच तत्त्वोंका, पाँच कर्मेन्द्रियोंका, पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंका, पञ्च प्राणका, विस्तार दीखता है, इसमें अस्ति, भाति, प्रिय ये तीनों ही तीन नहीं हैं—एक हैं। अस्तिके बिना भाति नहीं, भातिके बिना अस्ति नहीं, अस्ति-भातिके बिना प्रिय नहीं, प्रियके बिना अस्ति-भाति नहीं। प्रिय अपना आपा है।

जो अलग-अलग नाम और अलग-अलग रूप मालूम पड़ते हैं, वे बदलते हुए हैं। अतः नाम-रूप स्फुरणाएँ हैं और अस्ति-भाति-प्रिय स्थिर रहता है।

नाम चाहे कुछ भी हो और रूप उसका छोटा हो या बड़ा; किन्तु अस्ति 'है' के बिना कोई नाम-रूप नहीं हो सकता। मालूम पड़े बिना कोई नाम-रूप नहीं हो सकता। पहिले आत्माके बिना कोई नाम-रूप नहीं हो सकता। 'है' में नाम-रूप होता है। ज्ञानमें नाम-रूप मालूम पड़ता है। अस्ति नाम-रूपके आरोपका अधिष्ठान

है और ज्ञान नाम-रूपका प्रकाशक है। ज्ञान और आकार एक है। नाम-रूप स्फुरणाएँ हैं। चित् और सत् एक हैं और वह अपना आत्मा है।

इस प्रकार यह जितनी सृष्टि मालूम पड़ती है—मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी—इन सबमें नाम अलग-अलग और रूप अलग-अलग होनेपर भी एक सच्चिदानन्द ब्रह्म, अपना आत्मा ही है।

बदलनेवाले, फुरनेवाले, झूठ-मूठ प्यारे लगनेवालेमें-से नाम-रूपको निकाल दो तो निराकार अधिष्ठान, निर्विषय ज्ञान, भोग्य रहित प्रेम अर्थात् भोक्ता-भोग्य भाव रहित आनन्द, ज्ञाता-ज्ञेयसे रहित ज्ञान, कर्ता-कर्म-आकारसे रहित सत्ता—निष्क्रिय सत्ता, निर्विषय ज्ञान, निर्भोग्य आनन्द, यह अपने आत्माका स्वरूप है।

बाहर नाम-रूप दीखता रहे तब भी उसे छोड़कर एकाग्र हो और नेत्र बन्द करके बैठो तथा हृदयमें देखो कि नाम-रूप नहीं हैं तो वहाँ भी एकाग्र हो सकते हो।

इस नाम-रूपको छोड़नेके लिए कोई आलम्बन लेना है या नहीं ?

यदि मनुष्य स्वयं न चल सकता हो तो दूसरेका सहारा लेकर लक्ष्यपर पहुँचना पाप तो है नहीं। नेत्रसे ठीक न दीखता हो तो चश्मा लगाना कोई अपराध है ? इसी प्रकार समाधिके भी दो भेद हैं—

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधि द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥२३॥

हृदयमें दो प्रकारकी समाधि होती है—सविकल्प और निर्वि-

कल्प। दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध—ये सविकल्पके फिर दो भेद हो जाते हैं।

जब लक्ष्यपर पहुँचना होता है, तब वहाँ पहुँचनेके लिए एक क्रम होता है, इसीका नाम सम्प्रदाय है। अधिकारी जहाँ बैठा है, वहाँसे लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए जब हम किसी क्रमको स्वीकार करते हैं तो उस स्वीकृत क्रमका नाम सम्प्रदाय होता है।

यह संसार हम लोगोंको अपने पासके सब प्रमाणोंसे सच्चा लगता है। नेत्रसे; कर्णसे, त्वचासे, रसनासे, नासिकासे, मनसे और बुद्धिसे भी यह संसार ही ठोस प्रतीत होता है। आपको जबतक कुछ मिलेगा नहीं, इसे छोड़ नहीं सकते। अपवाद तभी हो सकता है जब उसका निषेध करनेको कोई सहारा मिले।

तुम आत्मसत्तामें द्रष्टा होकर बैठो तो दृश्यके साथ तुम्हारी गाँठ खुल जायगी—दृश्यसे असंग हो जाओगे।

सर्वकारण-कारण परमेश्वरका ध्यान करके उनमें लगो तो दृश्यमें जो भोग्यपना है, वह कट जायगा। कार्यके साथ तुम्हारा मोह छूट जायगा।

जब जीव-साक्षी और ईश्वर-साक्षी चैतन्यकी एकताका बोध होगा तो द्वैत सर्वथा मिट जायगा।

'सविकल्पो·····' समाधि दो प्रकारकी होती है—सविकल्प और निर्विकल्प। विकल्पका अर्थ है विविध कल्पना सहित। निर्विकल्पका अर्थ है विविध कल्पना रहित। विकल्प = विविधत्वकी कल्पना।

समाधि होगी तो विविधताकी कल्पना कैसी? विविधताकी कल्पना है तो समाधि कैसी?

कल्पना दो प्रकारकी होती है—एक कल्पना संसारमें फँसाने-

वाली होती है और एक कल्पना संसारसे छुड़ानेवाली होती है। जब हम ईश्वरसे प्रेम करते हैं तो संसारका दुःख देनेवाला प्रेम छूट जाता है। अतः प्रेम दो प्रकारका हुआ—संसारके व्यक्तिसे किया गया बाँधनेवाला और ईश्वरसे किया गया छुड़ानेवाला।

सविकल्प समाधिमें आलम्बन रहता है और निर्विकल्प समाधिमें कोई आलम्बन—सहारा नहीं रहता।

विकल्प क्या है ?

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।—योगदर्शन

हम कहें—'यह संन्यासीका शरीर है या ब्राह्मणका शरीर है तो यह विकल्प हुआ। शरीरके अतिरिक्त संन्यासी या ब्राह्मण कुछ नहीं होता। अतः शरीर और ब्राह्मण सम्बन्धकी कल्पना झूठी है विकल्पका अर्थ है कि वह वस्तु तो नहीं होती; किन्तु उसका सहारा लेकर वस्तुको समझा जा सकता है। जैसे—'राहुका सिर' असलमें सिरका ही नाम राहु है। उसके और क्या सिर होगा ? दूसरी वस्तु न होनेपर भी इस ढंगमें बोला जाय कि दूसरी लगे, इसे विकल्प कहते हैं।

एक समाधि दृश्यका सहारा लेकर लगाते हैं और एक शब्दका सहारा लेकर लगाते हैं, ये सविकल्प समाधिके दो भेद हैं।

जब शब्द और शब्दके अर्थका लय ज्ञानमें हो जाता है तो उसका नाम समाधि होता है। उसका अर्थ है—जैसे घड़ी शब्द है और घड़ी पदार्थये दोनों न रहकर ज्ञान रह जाय। इसका यह अर्थ नहीं कि बाहर घड़ी फूट-टूट जायगी या 'घड़ी' शब्द नहीं रहेगा—घड़ी वस्तु और घड़ी शब्दका ज्ञानसे अभिन्न होकर पृथक् रूपसे न भासना समाधि है।

सन् ३२-३३ में इस पुस्तकको पढ़ता था, तब यह विचार किया था कि समाधि चार प्रकारकी होती है—१. दृश्यानुविद्ध २. शब्दानुविद्ध ३. उभयानुविद्ध ४. उभयाननुविद्ध।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके यहाँ वर्षोंतक सत्संगमें यह चर्चा चलती रहती थी। हमलोग कहते थे—'समाधि विक्षेपकी निवृत्तिका साधन है; क्योंकि विक्षेप मिटाकर समाधि लगती है। विक्षेप समाधिका विरोध है; किन्तु अज्ञानसे समाधिका विरोध नहीं है। अज्ञानको मिटाकर समाधि नहीं लगती और समाधि लगाकर अज्ञानको मिटा दे, ऐसा भी नहीं है। सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है। प्रपञ्चका अभान अज्ञानका विरोधी नही है। समाधिमें प्रपञ्चका अभान होता है। इससे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती।'

बाबा—'तुम्हें जब ब्रह्मज्ञान होगा तो समाधि बाधित होगी या नहीं? अर्थात् समाधि मिथ्या है, यह ज्ञान होगा या नहीं?'

'होगा, क्योंकि समाधि तो एक अन्तःकरणमें होती है। तत्त्वमें तो होती नहीं। समाधि आभासकी—चित्तकी एक अवस्था है। जब आत्मा-ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होगा तो अन्तःकरणके मिथ्या-पनेका ज्ञान होगा। उसमें लगनेवाली समाधिके भी मिथ्यापनका ज्ञान होगा।'

बाबा—'ज्ञातका बाध होता है या अज्ञातका बाध होता है?'

जानी वस्तुको हम झूठी या सच्ची समझ सकते हैं। अनजानी वस्तुको न झूठी समझ सकते, न सच्ची।

बाबा—'समाधि क्या होती है, यह ज्ञात होना चाहिए।'

मैं—'मालूम होनेका अर्थ है कि जो वस्तु ज्ञात होती है, वह तो प्राप्त ही है।'

बाबा—'समाधि शब्द सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिए। समाधिका अर्थ शरीर स्थिर हो जाना नहीं, प्राणायाममें होनेवाली स्थिति नहीं, ध्येयाकार वृत्ति होना नहीं, त्रिपुटीका लय हो जाना नहीं,

भावनाके प्रकर्षसे या अभ्यासके प्रकर्षसे होनेवाला निरोध नहीं, चिन्तनमें आत्मा और ब्रह्मकी एकताके साथ जो तादात्म्य है—वह समाधि है।'

समाधिका अर्थ है त्रिपुटीका अभान। अभानकी सिद्धि भी भानसे ही होती है। बिना भानके अभानकी सिद्धि नहीं होती। 'इतनी देरतक हमारी समाधि लगी रही'—यह भी भान ही होता है। अतः यह जो पाँच मिनट या पाँच वर्षकी समाधि लगी, वह अपने स्वरूपमें नहीं है। इसका निषेध होता है; क्योंकि अपना स्वरूप तो अद्वितीय ब्रह्म है।

कमाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोयं समाधिः सविकल्पकः ॥२४॥

कमादि दृश्य हैं, चित्तके धर्म हैं, चेतन उनका साक्षी है, ऐसा ध्यान करे। यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

मनमें कितनी ही बातें आती-जाती हैं। मन तो एक सड़क है। उसपर मोटरें, ताँगे, मनुष्य, पशु आते-जाते हैं। मोटरें-ताँगे नये-पुराने, अच्छे-बुरे, तेजीसे या धीरे-धीरे जाते हैं; पर हम अलग बैठे देखते हैं।

प्रज्ञा-प्रासादमारुह्य अशोच्यान्शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

जैसे पर्वत-शिखरपर बैठ जायँ और नीचे नालेमें चाहे सुअर चरे या हाथी घूमे, चाहे पानी बहे या गन्दगी जाय, चोटीपर बैठा देख रहा है, ऐसे ही मनकी चञ्चलतामें नाना प्रकारकी वृत्तियाँ आती हैं। कभी मुर्दा निकल जाता है—कभी देवता। कभी महात्मा घूमता निकल जाता है, कभी गुण्डा। मनमें केवल अच्छी-अच्छी बातें ही नहीं आती, काम-क्रोध-लोभादि भी आकर बह जाते हैं।

उनमें ऊपर साक्षी चेतनके रूपमें हम बैठे रहते हैं। आने-जानेवाले न हमारे सम्बन्धी हैं, न हम हैं, न मेरे हैं। उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

'दृश्य दीख रहा है और मैं उसका असंग द्रष्टा साक्षी चेतन हूँ।' इस प्रकारसे दृश्यको देखते हुए भी असंग चेतनके रूपमें रहना—सम्बन्धको काट देना, यह पहिली समाधि है। मनमें कल्पना ही है, इसलिए यह सविकल्प समाधि है।

जैसे फिल्ममें अभिनेता, अभिनेत्री दृश्य कोई नहीं है। केवल संसार दीख रहे हैं। ऐसे ही मनमें जो संसार भरे हैं वे स्मृतिके पर्देपर दीख रहे हैं। वे न तुम हो—न तुम्हारे हैं। इस प्रकार सम्बन्धको काट देना, इसको दृश्यानुविद्ध—दृश्यसे मिली हुई सविकल्प अमाधि कहते हैं।

• संगति

दूसरी प्रकारकी सविकल्प समाधिमें शब्दका अनुवेध होता है।

मूल धातु है 'धा' और उसका अर्थ है धारण-पोषण। जो हमारी मनोवृत्तियोंको धारण करे और उनको बलवान् बनावे। इसमें दो उपसर्ग हैं—'सं' और 'आ'। उपसर्ग धातुके अर्थमें कुछ परिवर्तन कर देते हैं। सं = भली-भाँति, आ = चारों ओरसे समेट कर पूरी तरह। समाधि अर्थात् भली-भाँति पूरी तरह रख देना। आपके मनमें जितनी आधि-व्याधि हैं और जो संसारकी उपाधि आपके साथ लगी है, उसे आप शान्तिमें आधान कर दो—सुप्त कर दो, इसका नाम समाधि है।

इसके लिए योग-शास्त्रमें कुछ ऐसी बातें बतलायी हैं, जिन्हें

लोग साधारण समझकर छोड़ देते हैं; पर वे साधारण नहीं हैं। जैसे समाधि लगानेवालेके लिए यम-नियमका पालन आवश्यक है।

जो सच बोलता है, वह निश्चिन्त होता है। जो झूठ बोलता है, वह सचिन्त होता है। जिसे छिपानेकी चिन्ता लगी है, उसका मन एकाग्र कैसे होगा ?

जिस शत्रुको तुम दुःख पहुँचाना चाहते हो, वह तुम्हारे हृदयमें गड़कर बैठा है तो समाधि कैसे लगेगी ? अतः मन-वाणी-कर्मसे किसीको दुःख पहुँचानेकी इच्छा नहीं होनी चाहिए। असत्यका प्रेमी, हिंसाका प्रेमी और लोभी समाधि नहीं लगा सकता।

जो काम, भोगमें अधिक रुचि लेता है, उसका मनोबल क्षीण हो जाता है। उससे मनमें वासनाएँ बढ़ती हैं।

आवश्यकतासे अधिक सामान रखोगे या जो अपने हककी नहीं है ऐसी वस्तुएँ रखोगे तो तुम्हारे मन में व्यर्थ चिन्ता बढ़ेगी।

असत्य, हिंसा, चोरी, सम्भोग और परिग्रह, ये समाधिके नित्य विरोधी हैं।

सार्वभौममहाव्रतम्।

चाहे संसारके किसी देशका मनुष्य हो, चाहे किसी युगमें समाधि लगावे, चाहे किसी प्रकारकी समाधि लगानेवाला हो, ये पाँच बातें उसे विघ्न करेंगी।

समाधि लगानेवालेको पवित्र रहना चाहिए। समाधिके सम्बन्धमें स्वाध्याय करना चाहिए। जितनी-जितनी समाधिके सम्बन्धमें जानकारी बढ़ेगी, उतनी-उतनी ही समाधि गहराईमें जायगी। सन्तोष रखना चाहिए। ईश्वरप्रणिधान करना चाहिए। कष्ट सहनेको तैयार रहना चाहिए। ये पाँच साधारण बातें हैं।

इनमें-से कभी कोई छूट जाय तो काम चल सकता है। यम नित्य धर्म है। नियम कभी टूट भी जाय तो हानि नहीं होती।

यदि प्रतिदिन साधनका समय एक हो तो वह समय ही मनको खींच लावेगा। स्थानका नियम कर लें, वह स्थान पवित्र होना चाहिए। वहाँ बहुत सामान न हो। भजनका आसन दूसरे काम न आवे। उसपर बैठकर भोजन, शयन या गप्प हाँकना नहीं चाहिए।

'आसीनः सम्भवात्'—बैठकर भजन करना चाहिए। चलते-चलते भजन करोगे तो गिर सकते हो, टकरा सकते हो। सोकर भजन करोगे तो नींद आवेगी। निद्राजन्य लय चित्तमें आता है तो श्वासकी गति बढ़ जाती है और अभ्यासजन्य एकाग्रता चित्तमें आती है तो श्वासकी गति घट जाती है। समाधिमें शरीर टिका रहता है, निद्रामें लटक जाता है।

श्वासकी गति भी स्वतन्त्र न रहे, हमारी इच्छाके अनुसार चले। हमारा सारा साधन चेतनकी प्रधानतासे है। यदि श्वास नियन्त्रणसे बाहर रहे तो इसका अर्थ है कि जड़ चेतनके वशमें नहीं है। जब श्वासका अभ्यास ठीक हो जाय तो उसे जहाँका तहाँ छोड़ देना चाहिए। प्राणायामका मुख्य तात्पर्य क्रिया-शक्ति-को वशमें करना है। अर्थात् बैठनेपर शरीर हिले नहीं। प्राणायाम-में श्वास भीतर भर लेना कठिन नहीं है। उसे देरतक रोक लेना भी कठिन नहीं है। लेकिन श्वास छोड़ते समय धीरे-धीरे श्वास छोड़ना चाहिए।

प्रत्याहार—जैसे अपना एक बैल चरने गया। शामको नहीं लौटा तो एक व्यक्ति डंडा लेकर गया और उसे लौटा लाया। ऐसे ही विषयमें गयी इन्द्रियोंको उनके गोलकमें लौटा लाना।

धारणा—बैल लौटा लाये तो फिर न चला जाय, इसलिए

उसे खूँटेमें बाँध दिया। ऐसे ही मन-रूपी पशुको विषय-वनसे लौटाकर हृदय-गोलकमें रखना और उसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बनमें बाँध देना—यह धारणा है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —योगदर्शन

जैसे बँधा बैल एक छोटी दूरीसे बाहर नहीं जा सकता, ऐसे ही मन ध्येय वस्तुसे बाहर न जाय।

ध्यान—जैसे बँधे बैलको घास-चारा-दाना दे दिया तो खाकर वह कहीं जाना भूल गया, ऐसे ही मन ध्येयमें सहज लग जाय—स्वयं न हटे—यह ध्यान है।

समाधि—बैलको खोल दिया है पर वह वहीं बैठकर सो गया, ऐसे ही मन रसास्वाद भी भूलकर निरुद्ध हो गया।

योगदर्शनमें सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद माने हैं—१. स्थूलालम्बन, २. सूक्ष्मालम्बन, ३. आनन्दालम्बन, ४. अस्मितालम्बन। निर्वितर्का, निर्विचारा, आनन्दानुगता और अस्मितानुगता—ये क्रमशः चारोंके नाम दिये हैं।

योगदर्शनमें निरोधवृत्तिकी प्रधानता है, इसलिए यहाँ उसको पहिले नहीं लिया। इन्होंने स्थूलालम्बन, सूक्ष्मालम्बन और आनन्दालम्बन—इन तीनोंको कह दिया। दृश्यानुविद्ध और अस्मितालम्बन समाधिको शब्दानुविद्ध कह दिया।

मनमें आयी बातोंको देखते भर जाना दृश्यानुविद्ध समाधि है। आप देखो कि मनमें क्या-क्या बातें आरही हैं।

मनमें कोई वस्तु आती-जाती नहीं। मन न देह छोड़कर बाजार गया, न बाजार मनमें घुस आया। मनमें केवल वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानोंका विचार आता है। तुम वह प्रकाश हो—जिसमें

वस्तु-व्यक्ति-स्थानके दृश्य आते-जाते हैं। इन बदलते विचारोंको देखते रहना दृश्यानुविद्ध समाधि है।

स्थूलका दीखना भी दृश्यानुविद्ध है और सूक्ष्मका दीखना भी दृश्यानुविद्ध है। आनन्दका दीखना भी दीखना ही है। अतः दृश्यानुविद्ध समाधि सम्प्रज्ञात समाधिके स्थूलालम्बन, सूक्ष्मालम्बन (सवितर्का-निर्वितर्का, सविचारा-निर्विचारा) और आनन्दानुगत समाधिको अन्तर्गत करती है। इसमें द्रष्टाके स्वरूपका बोध नहीं होता। इतना ही होता है कि 'मैं हूँ' और 'यह सब दीख रहा है।' लेकिन 'मैं यह हूँ या मेरा है अथवा सच्चा है' यह ध्यान नहीं आता।

यह दृश्यानुविद्ध समाधि 'इदं' की प्रधानतासे है। अब 'अहं'की प्रधानतासे बतलाते हैं।

मकानमें दर्पण ऐसा लगाया कि सड़कपर जाती वस्तुएँ उसमें दीखती रहती हैं। हम बैठे हैं और उन्हें देखते रहते हैं। अब दूसरी है कि मनमें क्या आता है, यह मत देखो। हम कैसे हैं, यह देखो। दर्पण ऐसे स्थानपर लगा दिया कि सड़ककी वस्तुएँ न दीखें, अपना आपा ही दीखे। अपने आपको शब्दके द्वारा देखो, यह शब्दानुविद्ध समाधि है।

असंगः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥२५॥

मैं असंग सच्चिदानन्द स्वयंप्रकाश द्वैतरहित हूँ—यह शब्दविद्ध सविकल्प समाधि है।

'असंगः'—यह किसीसे सटता नहीं। सटना और हटना मनमें ही होता है। मन किसीसे सट जाता है, किसीसे हट जाता है। शरीर बच्चेसे युवा हुआ, युवासे वृद्ध हुआ, पर आत्मदेव ज्यों-के-त्यों

हैं। स्वप्न टूट गया, जाग्रत् हुआ, जाग्रत् टूटा स्वप्न हुआ, परन्तु ये ज्यों-के-त्यों हैं। ये असंग हैं।

पापने कहा—'हमारे साथ मिलकर पापी हो जाओ।' ये पापी नहीं होते।

पुण्यने कहा—'हमारे साथ मिलकर पुण्यात्मा हो जाओ।' ये पुण्यात्मा नहीं होते।

एक सेठजीने, जो श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके सत्संगी हैं, कहा—'मैं कभी-कभी टैक्सकी चोरी भी कर लेता हूँ, कुछ बेईमानी भी कर लेता हूँ; किन्तु बादमें मेरा मन इस पापको अपना स्वीकार नहीं करता, इसका क्या कारण है?'

मैंने कहा—'इसका कारण है स्वरूपगत असंगता। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप कर्मी नहीं है। कर्ता नहीं है। तुम्हारे स्वभावमें जो यह सहज बात है, इससे तुम अपनेको पापी स्वीकार नहीं करते।

वे—'पुण्यात्मा भी हम अपनेको स्वीकार नहीं करते।'

कालने आत्मदेवसे कहा—'हम तुमको काट देंगे!'

बोले—'हम सत् हैं।'

जड़ने कहा—'हम तुम्हें अपने साथ मिलाकर मूर्च्छित कर देंगे।'

बोले—'हम चित् हैं।'

दुःखने कहा—'हम तुम्हें अपने साथ मिलाकर दबा देंगे।'

बोले—'नहीं, हम आनन्द हैं।'

असंगः—इन्द्रियाँ असंग हैं। कोई विषय पकड़कर नहीं रखतीं। मन भी असंग है। आप किसीके साथ सदा जुड़कर नहीं रहे—न रह सकते। ज्ञान-स्वरूप आत्मा असंग है।

बचपनमें पितामहके साथ अनेक बार यात्रा करता। वे घरसे पूड़ी-शाक बनवाकर ले जाते थे और चाहे जहाँ बैठकर खाने लगते थे। मैंने पूछा—'घरमें तो आप चौका लगानेपर, पाटेपर बैठकर खाते हैं, क्या यहाँ चौका न लगानेका दोष नहीं है ?'

उन्होंने मुझे एक श्लोक याद कराया—

सर्वत्र वसुधा पूता यत्र लेपो न विद्यते।
यत्र लेपः कृतस्तत्र पुनर्लेपेन शुद्धति॥

पृथिवी सर्वत्र पवित्र है यदि किसी मनुष्य, पशु, प्राणीने वहाँ कोई वस्तु लेप न की हो। जब एक बार लेप हो गया तो उसे छुड़ाओ और दूसरा लेप करो तो पृथिवी पवित्र होगी। वैसे पृथिवी स्वयं पवित्र है। जहाँ अध्यारोप हो गया, वहीं अपवादकी जरूरत है।

जल अपवित्र नहीं होता, जलकी परिच्छिन्नता अपवित्र होती है। लोटेका जल अपवित्र हो सकता है; किन्तु समुद्र या गंगाजी अपवित्र नहीं हो सकतीं।

अग्नि अपवित्र नहीं होता, परिच्छिन्न अग्नि मुर्दा आदि जलानेसे अपवित्र होता है। वायु अपवित्र नहीं होता, परिच्छिन्न वायु अपान वायु आदिके रूपमें अपवित्र होता है। तात्पर्य यह कि तत्त्व कोई संगवान् नहीं होता। तत्त्वमें जहाँ खण्डभाव आता है, वहीं अपवित्रता आती है। तत्त्व सब असंग हैं।

असंगता भी दो प्रकारकी होती है—एक जलमें कमल रहता है और असंग रहता है। एक नीलिमामें आकाश रहता है और असंग रहता है।

जल सच्चा है। कमल सच्चा है। सच्चे जलमें रहकर कमल असंग रहता है। नीलिमा मिथ्या है। आकाश सच्चा है। मिथ्या नीलिमामें रहकर आकाश असंग है।

सांख्य और योगके अनुसार प्रकृतिमें रहता हुआ भी पुरुष जलमें कमलकी भाँति असंग है। वेदान्तमें नीलिमामें आकाशके समान आत्मा असंग है। अर्थात् मिथ्या सृष्टिमें रहते आत्मा असंग है। शब्दका आश्रय लेकर समाधि लगेगी—'असंगोऽहम्।'

निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि स्वस्थोऽस्म्यस्मि च निस्पृहः।
शान्तोऽहं एकरूपोऽस्मि चिदाकाशमहं स्थितः॥

मैं निश्चेष्ट हूँ, मैं निरंश हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं निस्पृह हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं एकरूप-निर्विकार हूँ, मैं चिदाकाश-अविनाशी हूँ—ऐसा विचारकर साक्षीनिष्ठ समाधि होती है।

एक महात्माके पास दो शिष्य आये। दोनोंमें विवाद हो गया। एकने कहा—'यह सदा विचार-विचार करता रहता है। विचारमें क्या रखा है!'

महात्मा—'तुम ठीक कहते हो'—विचार तो विक्षेप है। तुम विचार छोड़कर शान्त हो जाओ।'

दूसरा बोला—'आप मेरी भी तो सुन लो। यह समाधि-समाधिकी रट लगाये रहता है; लेकिन समाधिसे उठनेपर देहमें ज्यों-की-त्यों 'मैं' बुद्धि हो जाती है। समाधिसे तो परिच्छिन्न अहंभाव कटता ही नहीं। लेकिन विचार करनेसे तो परिच्छिन्नतामें-से अहंभाव दूर होता है। अतः समाधि-समाधिकी रट लगानेवाला अज्ञानी है।'

महात्मा—'तुम ठीक कहते हो।'

दोनों—'दोनों ठीक कैसे?'

महात्मा—'जिसका विचार पूर्ण हो गया, अज्ञान मिट गया, उसे शान्त होकर रहना चाहिए। जिसका अज्ञान बना है, वह समाधिसे नहीं छूटता। उसे विचार करना चाहिए।'

मननसे संशय और निदिध्यासनसे विपर्यय मिटता है। अतः जीवनमें मनन-निदिध्यासन दोनों होने चाहिए।

सच्चिदानन्द—'मैं सच्चिदानन्द हूँ।'

सत् उसे कहते हैं, जिसे कभी कोई झुठला न सके। आपका अपना होना झुठलाया नहीं जा सकता। सच्चा सत् वह जहाँ कर्ता-कर्मका भाव नहीं है।

जो सबको जानता है, पर स्वयं जाना नहीं जाता, वह चित् है। 'स्वयं प्रकाशतेति चित्' जहाँ ज्ञाता-ज्ञेयका भाव नहीं है, वह सच्चा चित् है।

जहाँ भोग्य-भोक्ताकी आवश्यकता न हो वह आनन्द है।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

इन्द्रिय-मनसे युक्त होनेपर आत्माका नाम भोक्ता होता है और अमुक वस्तु भोग्य होती है। जहाँ जीवात्मता और विषय दोनों नहीं हैं—वह आनन्द है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्यकी उपस्थितिसे पूर्व विद्यमान अद्वितीय आत्मा मैं हूँ सच्चिदानन्द।

'स्वप्रभः'—स्वयंप्रकाश।

ये आत्मदेव स्वयंप्रकाश हैं। उसी प्रकाशमें सब कुछ प्रकाशित हो रहा है।

'द्वैतवर्जितः'—दूसरा है नहीं। तुम दूसरा बनाकर खेल रहे हो। ऐसा आत्मा मैं हूँ—यह शब्दानुविद्ध समाधि है। इसमें शब्द है और वृत्ति है, परन्तु काम-क्रोध आदि नही हैं।

जबतक शब्द द्वारा अपनी विलक्षणताको समझ नहीं लेते हो, तबतक छोड़ना कैसे बनेगा और छोड़ोगे तो जहाँ-के-तहाँ रहोगे। पशु-पक्षी समाधि नहीं लगाते तो क्या वे मुक्त हो गये—ब्रह्म हो गये? उन्हींकी कक्षामें रहना हो तो समाधि मत लगाना।

यह अस्मितानुगत समाधि है। इसमें बाहरके विषय नहीं हैं। इसमें अपना शरीर भी नहीं है—देहाभिनिवेश नहीं है। कष्ट देनेवाला शत्रु नहीं है—किसीसे द्वेष नहीं है। किसीसे राग नहीं है। रस भी नहीं है। सुख देनेवाला मित्र नहीं। तुम ऐसी स्थितिमें बैठे हो, जहाँ न दुःख है—न सुख और न भय, न देहका मोह ही है। तुम स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द अद्वय हो।

संगति

अब निर्विकल्प समाधिका वर्णन करते हैं। निर्विकल्प समाधि योगके असम्प्रज्ञात समाधिकी कोटिमें जाती है।

निरस्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्रा विनिर्मुक्ता सा स्वरूपास्थितिः परा॥

कोई संकल्प न हो, पत्थरके समान स्थिति हो। न जाग्रत् हो, न निद्रा हो—कोई संकल्प न हो, परिच्छिन्न-अपरिच्छिन्नकी याद न हो, यह परा स्वरूपस्थिति है।

धारणामें स्थानकी प्रधानतासे चित्तको बाँधते हैं। जैसे 'प्रेम-कुटीर'के हालमें बैठे हैं, पर पूरे हॉलमें नहीं हैं—चार फुटमें हैं। चार फुटमें बैठा शरीर तो नहीं हैं, चैतन्यमात्र हैं। चैतन्यमात्र हैं तो विषय देशमें नहीं हैं—अन्तरमें हैं। इस प्रकार चलकर देश विशेषकी प्रधानतासे कोई मूलाधारमें, कोई मणिपूरकमें, कोई अनाहतमें, कोई आज्ञाचक्रमें और कोई सहस्रारमें अपनेको एकाग्र करते हैं। चित्तको स्थानमें रोकना धारणा है। जैन मतमें स्थानका बड़ा महत्त्व है।

ध्यान वृत्तिकी समानतासे सम्पन्न होता है। कपड़ेके तानेके समान मनोवृत्तियोंको एक पंक्तिमें चलाना एकतानता है। जैसे

एक बर्तनमें-से पानी दूसरे बर्तनमें डालते हैं तो धारा बन जाती है। बूँद-बूँद जल पृथक्-पृथक् होनेपर भी धारा बनी रहती है; ऐसे ही वृत्तियाँ अलग-अलग होनेपर भी एक धारा बन जाय—यह ध्यान है।

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ। —योगदर्शन

जो वृत्ति शान्त हो, वही वृत्ति उदय हो। सब वृत्ति समान उदय होंगी तो उनकी धारा जैसी बन जायगी। चित्तवृत्तिमें यह जो धारा—एक विषयता है, योगदर्शनमें इसीको ध्यान कहते हैं।

एक व्यवहारका संस्कार होता है और एक निरोधका संस्कार होता है। जब विक्षेपके संस्कारोंको अभिभूत करके निरोधके संस्कारोंका आविर्भाव होता है, तब उसको समाधि कहते हैं। चित्तका चंचल होना—बाहरके विषयोंमें घूमना विक्षेप है। जब वृत्ति बाहरके विषयोंको ग्रहण नहीं करती, तब समाधि लगती है।

स्थानकी प्रधानतासे धारणा होती है। एक विषयताकी प्रधानतासे ध्यान होता है। यावत्कालपर्यन्त दूसरी वस्तुका चित्तमें उदय नहीं हुआ, वृत्तिमें इतनी देर देश-काल-वस्तुका स्फुरण नहीं हुआ—यह समाधि है।

समाधिमें आलम्बनकी आवश्यकता होती है। योग-दर्शनमें अनेक आलम्बन बतलाये गये हैं—

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

जो मनोवृत्तियोंको इतना अधिक समझता है, उसकी बातपर भी तो ध्यान देना चाहिए। राग-द्वेषरहित महापुरुषमें चित्त लगानेसे समाधि लग जाती है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है ।

प्रच्छर्दनविधारणात् ध्यानं वा प्राणस्य ।

योगसूत्र, समाधिपाद

प्राणायाम करनेसे अथवा प्राणकी गतिपर ध्यान एकाग्र करनेसे समाधि लगतो है ।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

अभ्यास और वैराग्यसे वृत्ति निरोध-समाधि होती है ।

बारम्बार अभ्यास करके वृत्ति-निरोधके संस्कारको जाग्रत् करना होगा । जहाँ-जहाँ वृत्ति जाती है, उसमें जो राग-द्वेष है, उसे छोड़ दो । राग-द्वेष त्यागे बिना और बार-बार निरोधका अभ्यास किये बिना निरोध-संस्कारका जागरण नहीं होगा ।

ईश्वरका ध्यान वृत्तिको शान्त करनेके लिए उपयोगी है ।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः ।

योगसूत्र-समाधिपाद

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ईश्वरमें नहीं है, वह हमारे शरीरमें ही रहता है । नासमझी, अहंकार, मोह, शत्रुता और मृत्युका भय देहाभिमानी जीवमें होता है— ईश्वरमें नहीं । ईश्वरमें बुरा-भला कर्म और कर्मका फल सुख-दुःख नहीं रहता । कर्मफलसे बना अन्तःकरण ईश्वरमें नहीं है ।

स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

योगसूत्र, समाधिपाद

वह अविनाशी है । सब ज्ञान उसीसे निकलते हैं । इन्द्रियोंका, प्राणोंका, मनका, बुद्धिका, ब्रह्मा-हिरण्यगर्भादिका गुरु भी वही है; क्योंकि वह कालपरिच्छिन्न नहीं—सत् है ।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।

योगसूत्र, समाधिपाद

उसमें सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञताका बीज है अर्थात् वह ज्ञान-स्वरूप है ।

तस्य वाचकः प्रणवः ।

उसका नाम ॐ है । समाधि लगानेके लिए वह आलम्बन है ।

'वि'का अर्थ विविध या विशिष्ट । अतः विविध कल्पना या विशिष्ट कल्पना सहित सविकल्प हुआ । कल्प = आभूषण । यह अपना स्वरूप नहीं है, अपना आभूषण है—बाहरसे लिया गया है । विकल्प = शृङ्गार । इस दृश्यसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ।

जहाँ भावमें भेद होता है, वहाँ शब्द अवश्य होता है । काम, क्रोध, लोभादिको जब आप अलग-अलग पहिचानेंगे तो मनमें शब्द, उनके नाम भी रहेंगे । दर्शन शास्त्रका सिद्धान्त है कि बिना शब्दके वृत्ति नहीं होती । प्रत्येक वृत्तिमें शब्द रहता है । वृत्तिमें आकार है तभी उसका नाम होगा । वृत्तिमें क्रिया होगी तभी ध्वनि होगी । वही ध्वनि उसका नाम होती है । आकारकी प्रधानतासे दृश्यानुविद्ध और साक्षीकी प्रधानतासे शब्दानुविद्ध ये दो भेद किये । शब्द भी साधन है । वृत्तिके साथ लगनेसे दोनों ही समाधि सविकल्प हैं । अब निर्विकल्प समाधिकी चर्चा करते हैं ।

समाधिमें दो वस्तु प्रधान हैं—अभ्यास और वैराग्य । अभ्यासके द्वारा कोई अग्निसे, वायुसे, आकाशसे या सूर्यसे तादात्म्यापन्न हो जाते हैं । वामदेव ऋषि कहते हैं—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च ।

अहंकारसे तादात्म्यापन्न होकर रुद्र हो जाते हैं । महत्तत्त्व,

प्रकृति या हिरण्यगर्भसे भी जीव तादात्म्यापन्न हो जाते हैं। अभ्याससे इतनी ऊँची अवस्था प्राप्त हो जाती है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

योगदर्शन-समाधिपाद

जो अभ्यासके द्वारा निराकार विदेह स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं, वे ब्रह्मातक हो जाते हैं। जो विदेह हैं अर्थात् जिनको स्थूल शरीर प्राप्त नहीं है, वे देवता होते हैं और जो प्रकृति लीन हैं अर्थात् अहंकारतत्त्व, महत्तत्त्व या प्रकृतिसे एक हो जाते हैं, उनकी भी यदि अविद्याकी निवृत्ति नहीं हुई—सत्त्वपुरुषान्विता ख्याति नहीं हुई, यदि 'इदं अहं'का—आत्मानात्मविवेक नहीं हुआ तो उनका भी पुनर्जन्म होता है। उनका पुनर्जन्म होता है तो भव-प्रत्यय होता है अर्थात् पूर्वजन्ममें जिस साधनाभ्याससे उन्हें देवत्व या ब्रह्मत्व प्राप्त हुआ था, उस साधनाभ्यासका संस्कार उनके जीवनमें अपने आप प्रकट होता है।

उन्होंने अभ्यास तो किया था; किन्तु वैराग्य उनमें नहीं था। वैराग्यहीन होनेसे सिद्धि मिल गयी—देवता, इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य या चन्द्रमा हो गये। वैराग्य न होनेसे प्रकृतिके एक अंशसे उनका तादात्म्य हो गया। यदि उनका परं वैराग्य होता—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।—योगदर्शन

तब उन्हें 'मैं प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्चसे विलक्षण नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ'—यह बोध हो जाता और गुणोंके द्वारा बनायी स्थितियोंमें तृष्णा न होती। उस वैराग्यकी कमीके कारण ही वे योगाभ्यास करके देवता हुए थे और वैराग्यकी कमीके कारण ही फिर मनुष्ययोनिमें आये। उनके भीतर वासनाके बीज विद्यमान हैं। अतः बचपनमें किसीको योगियों जैसी स्थिति दीखे तो यह मत मान लेना कि वह जीवन भर वैसा ही रहेगा; क्योंकि वह

भव-प्रत्यय है। जैसे उसमें अभ्यास दीख रहा है, वैसे ही वासनाएँ उभर आयेंगी।

यह भव-प्रत्यय समाधिका साधन नहीं है। विघ्नके रूपमें योगदर्शनने इसका उल्लेख किया है। अतः इस भव-प्रत्ययके चक्करमें न पड़कर उपाय-प्रत्यय अपनाना। यदि इस जन्ममें वैराग्य हो जाय और समाधिका साधन करें तो भव-प्रत्यय काम देगा अन्यथा व्यर्थ चला जायगा। अतः इस जन्ममें अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासके लिए—

श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञापूर्वकः इतरेषाम्।

योगसूत्र-समाधिपाद

१. यदि आप साधन करना चाहते हैं तो श्रद्धा होनी चाहिए। अपने साधनपर, साधन जहाँ है उस शास्त्रपर, साधनके उपदेष्टा गुरुपर श्रद्धा करो। व्यासभाष्यमें इस सूत्रकी व्याख्यामें कहा है—

श्रद्धा जननीव कल्याणो योगिनं पाति।

श्रद्धा माताके समान कल्याण-कारिणी है। वही योगीकी रक्षा करती है। रोग होनेपर भी साधन न छूटे, आलस्य आनेपर भी साधन न छूटे, प्रमाद होनेपर भी साधन न छूटे—यह तभी होगा जब अपने साधनमें तुम्हें श्रद्धा होगी।

२. जब श्रद्धासे साधनानुष्ठान करते हैं तो जीवनमें एक प्रकारकी शक्ति आती है।

३. शक्ति आनेपर अन्तःकरणमें सुप्त स्मृतियाँ स्वतः जाग जाती हैं।

४. स्मृतियाँ जाग जाती हैं तब आत्मा अजर-अमर है—यह बात प्रत्यक्ष होने लगती है; क्योंकि पूर्वजन्मकी स्मृतियाँ भी जाग

जाती हैं। स्मृति जागनेसे प्रज्ञा अर्थात् विवेकका उदय हो जाता है कि 'मैं स्थूल देह नहीं हूँ।'

जब विवेकका उदय हो जाता है, तब परिवर्तनशील तमोगुणकी वृत्तियाँ निवृत्त होकर पुरुषख्याति हो जाती है अर्थात् आत्माका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है। उसके ज्ञात हो जानेपर परम वैराग्य हो जाता है। परम वैराग्यमें समाधिसे भी वैराग्य हो जाता है।

'गुणवैतृष्ण्यम्'—गुणसे वितृष्णा हो जाती है अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस तीनों प्रकारकी वृत्तियोंसे वैराग्य हो जाता है। इस वैराग्यकी पूर्णता होनेपर चित्तवृत्ति आत्मसदृश हो जाती है। सन्मयी, चिन्मयी, आनन्दमयी, प्रकाशमयी, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्नरूपा हो जाती है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः। यो० कै०

सम्प्रज्ञात समाधिमें जो आलम्बन है, बाह्य मूर्ति आदि या सूक्ष्म वस्तुका आलम्बन मूर्ति-ध्यानादि या आनन्दका आलम्बन या शब्दका आलम्बन कि आत्मा असंग स्वप्रभ है—'मैं ऐसा हूँ—ऐसा हूँ'—इन सब आलम्बनोंका निरोध अर्थात् त्याग हो गया। तब निर्विकल्प समाधि हुई।

वृत्ति ऐसी होने दो जिसमें कोई दूसरी वस्तु न हो। सम्प्रज्ञात समाधिमें जो आलम्बन है, उसका भी निरोध करनेके बाद जो चित्तकी निर्विषय दशा है, वह निर्बीज समाधि है।

वेदान्तदर्शनकी दृष्टिसे यह निर्बीज नहीं है। लेकिन योगदर्शनकी दृष्टिसे निर्बीज है। वेदान्तमें निर्बीज केवल ब्रह्म है। बीज अविद्या है—भेद भ्रान्तिकी जननी। रस्सीको न जानना अज्ञान है और रस्सीको सर्प, माला आदि जानना भ्रान्ति है। योग और

सांख्य दर्शनोंमें केवल भ्रान्ति मानी जाती है। उसीको वे अविद्या कहते हैं। अनात्मामें आत्मबुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धिको वे अविद्या कहते हैं। वृद्धिके बीज-करण रूपमें अज्ञानको अविद्या वेदान्तमें मानते हैं। अतः वेदान्त सिद्धान्तमें आत्माका अद्वितीय ब्रह्मसे एकताका ज्ञान ही बीजको भस्म करता है, ऐसा मानते हैं। आत्माको ब्रह्म जाननेसे बीजभूता अविद्याका नाश होता है। सांख्य और योगमें असंग—द्वैत सम्बन्धरहित या द्वैत भानरहित द्रष्टाको ही निर्बीज मानते हैं।

स्वानुभूतिरसोवशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितः।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥२६॥

अपनी अनुभूतिके रसावेशसे दृश्य, शब्दादिकी उपेक्षा करके वायु-हीन स्थानमें दीपककी भाँति स्थिति निर्विकल्प समाधि है।

जहाँ दृश्य और शब्द दोनों नहीं हैं। शत्रु-मित्रादि बाहरके पदार्थ नहीं हैं, राग-द्वेषादि भीतरके पदार्थ नहीं हैं और 'मैं असंग हूँ, सच्चिदानन्द हूँ'—ये शब्द भी नहीं हैं, वहाँ केवल अनुभूति है, अनुभाव्य नहीं है।

जैसे दर्पण हो परन्तु उसमें कोई छाया न पड़ती हो। एक अखण्ड परिपूर्णता हो, पर वह देशमें फैली है—यह ख्याल न हो। कालमें चलती रहती है—यह ख्याल न हो। कालमें चलना विज्ञान-की धारा है। देशमें फैला होना संकोच-विस्तारवाला है। द्रव्यकी भाँति ठोस नहीं है। जहाँ धारा नहीं है, संकोच-विस्तार नहीं है, ठोसपना नहीं है, शब्द नहीं है, कोई वृत्ति नहीं है, जहाँ केवल स्वानुभूति ही परमानन्द है, वह निवात-स्थिति दीपकके समान अचंचल अपना स्वरूप है।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रथमाध्यासं आत्मानं केवलं भजे ॥

जहाँ न द्रष्टा है—न दर्शन है—न दृश्य है। दृश्यकी अपेक्षासे द्रष्टापना है। द्रष्टाकी अपेक्षासे दृश्य है। दोनोंकी अपेक्षासे दर्शनपना है। द्रष्टा-दर्शन-दृश्यकी वासना भी छोड़ी, दर्शनके भी पूर्व जो था, वह आत्मा है। मिथ्या प्रपञ्चका ख्याल भी छूट गया यह समाधि निर्विकल्प हुई।

'स्वानुभूतिरसावेशात्'—स्वानुभूति अर्थात् आत्मा जो परमानन्द है, यही परम प्रेमास्पद है। स्व = सद्रूप, अनुभूति = चिद्रूप, रस = आनन्दरूप अर्थात् अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें ही अभिनिवेश हो जाय—उसीमें मग्न हो जाय।

जब चित्तको सर्वथा खाली कर देते हैं तो सर्वत्र विद्यमान सच्चिदानन्द ही उसमें रहता है। जैसे घड़ेको खाली कर देते हैं तो उसमें आकाश रहता है।

स्वयं परमानन्द स्वरूप है अतः न बोलनेकी जरूरत है, न सोचनेकी, न देखनेकी।

व्यवहारका केवल अर्थ है मुखसे बोलना और मनसे सोचना।

व्यवहारः शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपो वा।

जब तुम अच्छा सोचते हो और अच्छा बोलते हो तो तुम्हारा व्यवहार अच्छा है। जब तुम बुरा सोचते हो और बुरा बोलते हो तो तुम्हारा व्यवहार बुरा है। जब तुम न मनमें कुछ सोचते और न वाणीसे कुछ बोलते हो, तो इसका नाम समाधि है—सच्चिदानन्दका हृदयमें आविर्भाव हो गया।

'निवातस्थितदीपवत्'—जैसे बिना वायुके स्थानपर दीपक रखा हो और उसकी लौ सीधी निष्कम्प हो। उस दीपकमें भी बत्ती होती है, तेल जलता है। ऐसे ही हृदयमें जो चैतन्यका निष्कम्प प्रकाश हो रहा है, वह है तो चिदाभास ही, पर उसमें चिन्मात्र वस्तु ज्यों-की-त्यों है।

यानुभूतिरजामेया स्वनन्तानन्द निग्रहा:।
महदादिजगन्माया चित्तवित्तं नमामि तत्॥

एक अनुभव है जिसका कभी जन्म नहीं हुआ। हमारे हृदयमें एक ऐसी ज्योति है जो अमेय है। वह प्रमाणोंसे नहीं जानी जाती। उसका आदि-अन्त नहीं है। वह आनन्द है। वह एक ऐसी ज्योति है, जिसमें पृथिवीसे आकाशतक सारा दृश्य बिना हुए ही दीख रहा है।

प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्दरूपकम्।
असम्प्रज्ञातनामायं समाधिः योगिनां प्रियः॥

सारी वृत्तियाँ शान्त हो गयीं। दिव्य-चिन्मय ज्योति विद्यमान है। यही बात भगवान्ने गीतामें कही—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

यह जो देहकी उपाधिसे परिच्छिन्नवत् प्रतीत हो रही है चिन्मय ज्योति, वह वस्तुतः कालकी धारामें नहीं है। इसका भूत-भविष्य-वर्तमान नहीं है। यह पूर्व-पश्चिमादि देशकी कल्पनामें नहीं है। यह ज्ञाता-ज्ञेयकी कल्पनाके अन्तर्भूत नहीं है। यह अज है, अनन्त है, अचल है, अद्वितीय है, यह आत्मा है।

मा भव ग्राह्यात्मा ग्राहकात्मा सदा भव।

तुम दृश्य मत बनो और तुम द्रष्टा भी मत बनो। न तुम दृश्य हो, न द्रष्टा हो। सारी भावनाएँ छोड़कर जो शेष रह जाता है, वह तुम हो।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यः।

योगदर्शन

जब संसारमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण—किसीमें प्राबल्य

बुद्धि न रहे—'हमको नींद लेना है, हमको काम करना ही है, हमको उपासना करनी है हमको समाधि लगानी है,' आदि कोई कर्तव्य-बुद्धि न रहे—गुणोंकी किसी भी अवस्थामें जब पुरुषार्थ-बुद्धि न रहे—'यह धर्म करना, यह धन कमाना, यह भोग करना, यह मोक्ष पाना' ऐसा कुछ न रहे, जब हम गुणोंसे कुछ नहीं चाहते तो गुण कुछ उत्पन्न नहीं करेंगे। तब कैवल्य हो गया।

• संगति

बाहर भी ऐसी समाधि होती है, भीतर भी ऐसी समाधि होती है। बाहर होनेसे तत्-पदार्थ-प्रधान हो जाती है, भीतर होनेसे त्वं-पदार्थ-प्रधान हो जाती है। वस्तुतः प्रत्यक् चैतन्य ही रहता है। इसीसे ब्रह्म ही वस्तु है। इसमें बाहर-भीतरका भेद नहीं है।

अबतक शरीरके भीतर समाधि लगानेकी तीन प्रक्रियाएँ बतलायीं। एक तो मनकी धारा और उसमें अलग-अलग तरङ्गें दीखती रहें, किन्तु 'देखभालवाला प्रकाशात्मक ज्ञान मैं हूँ।' इसमें मुख्य दृष्टि दृश्यपर है—दृश्यसे अलग होकर उसे द्रष्टा देख रहा है। इसको ज्ञाता नहीं कहते; क्योंकि यह किसी कारणसे नहीं देखता। मनकी धारा इन्द्रियोंसे नहीं देखी जाती। नेत्रादि इन्द्रियोंके बिना ही हम मनकी धाराको बहती देखते हैं। अतः इसे द्रष्टा कहते हैं।

मनकी धाराएँ नयी-नयी आती हैं। जो नहीं थी, वह उत्पन्न हुई और जो थी, वह लुप्त हो गयी। मनकी धाराएँ उत्पन्न होती और मिटती जा रही हैं। हम उनका आना-जाना देख रहे हैं।

यह दृश्यमानपर दृष्टि रखनेवाला मनसे न्यारा है। यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि हुई।

दूसरी स्थितिमें दृश्यका मिश्रण नहीं है। शब्दका ही मिश्रण है। क्योंकि शब्दके द्वारा हम अपनेको असंग, सच्चिदानन्द, स्वयं-प्रकाश, अद्वैतके रूपमें अनुभव करते हैं। इसमें दृश्यपर कोई दृष्टि नहीं है। यह शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि हुई।

तीसरी स्थितिमें दृश्य और शब्द दोनोंको छोड़ दिया। केवल अपना स्वरूप है। उसमें ऐसे मग्न हो गये कि अपनेको असंग सच्चिदानन्द कहने-सोचनेकी जरूरत नहीं है। स्वानुभूति-रूप निर्विकल्प बैठ गये। यह निर्विकल्प समाधि है।

महात्मा लोग कहते हैं—ध्यानमें बैठे और गाढ़ सुषुप्ति अवस्थाका चिन्तन करे। यह निद्रा नहीं है, क्योंकि ध्यान कर रहे हैं। विषय दीख नहीं रहे हैं, अतः यह जाग्रत् या स्वप्न भी नहीं है। गाढ सुषुप्तिको दृष्टिमें लेकर बैठा साक्षी निर्विकल्प है; क्योंकि दृश्य और शब्द भी नहीं हैं। सुषुप्तिका ध्यान भी छोड़ दो—तुम्हीं हो। यह परम प्रिय परमानन्द स्वरूपावस्था है।

जिसे वैराग्य न हो, जिसे सत्संग न मिला हो और विवेक न हो तो चुपचाप बैठनेको ही वह परमार्थ समझ लेगा; किन्तु चित्तकी किसी अवस्थाका नाम परमार्थ नहीं है।

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्ये पापाख्ये कर्मसंचये॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक्परोक्षावभासते।
करामलकवज्ज्ञानमपरोक्षं प्रसूयते॥

स्वामी विद्यारण्य

इस स्थितिमें बैठना वासनाके बेगको कम करनेवाला है। वासना-नाशका यह उपाय है। मनकी शक्तिको भी क्षीण करता है। संसारके जो नाना प्रकार—आकार मनमें आरहे थे, उनकी चिन्ता छूट गयी। यहाँ न पाप है—न पुण्य है। कर्तापन भी नहीं भासता। इसमें जो पहिलेका सुना तत्त्वमस्यादि महावाक्य है, जिससे परोक्ष रूपमें तत्त्वका आभास होता है, उसका प्रतिबन्ध मिट जाता है। उसके अर्थज्ञानकी बाधा दूर हो जाती है। अतः यह समाधि प्रति-बन्ध निवृत्तिके लिए उपयोगी है। जहाँ वासना और मनकी चंचलता ये दोनों प्रतिबन्ध मिटे, वहाँ वाक्यसे जिसे पहिले परोक्ष रूपमें जानते थे, वह अब साक्षादपरोक्ष हो जायगा। अतः यह समाधि वाक्यार्थज्ञानमें सहायक है।

यह समाधि जैसे भीतर होती है, जैसे ही बाहर भी होती है, यह बात आगे कह रहे हैं।

> हृदीव बाह्यदेशेपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि।
> समाधिराद्यः सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥२७॥

हृदयकी भाँति ही बाह्य देशमें जिस किसी भी वस्तुमें नाम-रूप पृथक् करके सन्मात्रवस्तुमें स्थित होना दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

जैसे हृदयमें परमात्माका ध्यान कर रहे थे, वैसे ही बाहर भी करो। भीतरवाली समाधिमें पहिली बात कही थी—'मनकी धारा बह रही है, उसमें कामिनी, शत्रु, धन आदिके आकार आये-गये, उनको देखते रहो।' अब बाहर जितनी वस्तुएँ दीख रही हैं, उनमें-से नाम-रूपको निकाल दो। घड़ा है, कपड़ा है, मकान है—इनमें घड़े, कपड़े, मकानके नाम-रूपोंको निकाल दो। इसी 'है'का सत् कहते हैं।

नाम-रूपमें राग-द्वेष होता है। सत्तामात्रमें राग-द्वेष नहीं होता। अभिनिवेश भी नाम-रूपमें ही होता है। अस्मिता भी नाम-रूपमें ही होता है।

एक अस्ति प्रत्ययका विषय सत्य होता है और एक अस्ति प्रत्ययका आश्रय सत्य होता है। अस्ति प्रत्ययका विषय नाम-रूप होता है, जिससे प्रत्यय दीख रहा है; वह अस्ति प्रत्ययका आश्रय है। भीतर समाधि लगानी होती है तो अस्ति प्रत्ययके आश्रयमें लगाते हैं। बाहर समाधि लगाते हैं तो अस्ति प्रत्ययके विषयमें अर्थात् वृत्तियोंसे जो बाहर मालूम पड़ता है, उसमें नाम-रूप झूठा है और केवल सन्मात्र वस्तु है। वही सत् भीतर विषयाकार परिणत वृत्तिका आश्रय है और बाहर वृत्तिके विषयका आश्रय है। उस सन्मात्र वस्तुकी स्थापना यह दृश्यानुविद्ध समाधि है। अर्थात् पृथक्-पृथक् घट-पट-मठ, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, पृथिवी-जल-वायु आदि पदार्थोंकी समष्टि प्रतीत होनेपर भी सन्मात्र ब्रह्म एक ही है—इस प्रकारकी वृत्तिका नाम दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

• संगति

नाम-रूप होनेपर भी नाम-रूपमें एकरस परमात्मा है, ऐसा सोचते थे। उसमें नाम-रूपको छोड़कर अब शब्दका आश्रय लो।

> अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
> इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत् ॥२८॥

अखण्ड एकरस सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व है, ऐसा लगातार चिन्तन शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

वस्तु अखण्ड एकरस है। इसमें पहले ऐसे सोचते हैं—

यत्र स्थितं यं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी।
रज्वांभुजंगवद्भाति सोऽहमात्मा सदोदितः॥

विश्वकी सुन्दरता जिसमें दीख रही है, वह हमारी प्रतिभा है। यह हमारी वृत्तिका विलास है। ये आत्मदेव ही अखण्ड परिपूर्ण हैं। यह सच्चिदानन्द अखण्डैकरस अद्वितीय वस्तुको देखना शब्दानुविद्ध समाधि है।

● संगति

दृश्य और शब्दका आश्रय छोड़कर इसीमें मग्न हो जाओ।

स्तब्धीभावो रसास्वादात् तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥२९॥

रसास्वादसे स्तब्ध हो जाना पहलेकी भाँति निर्विकल्प समाधि है। इन छह समाधियोंमें कालको निरन्तर व्यतीत करो।

निदिध्यासुको चाहिए कि स्वानुभूति-रसमें—अद्वितीय ब्रह्म ही है, इसमें मग्न हो जाय। इसके लिए बोलकर वृत्ति बनानेकी जरूरत नहीं है, ऐसा सोचकर चुपचाप बैठ जाय। यह बाहर निर्विकल्प समाधि है।

दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध और निर्विकल्प ये तीन समाधियाँ भीतर और दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध एवं निर्विकल्प ये तीन समाधियाँ बाहर—इन छह समाधियोंके द्वारा अपना समग्र सदा व्यतीत करे।

'निरन्तरम्'—एक तो इसमें आदर बुद्धि हो कि 'जो समाधि मैं लगा रहा हूँ, वह परमार्थका दर्शन करावेगी।' दूसरे दीर्घकालतक इसे करे, ऊब न जाय। रसावेश ऐसा होना चाहिए कि जो दीर्घकालतक रहे और लगातार रहे। ये तीनों बातें होनेपर सफलता होती है।

● संगति

यह समाधि कबतक की जाय ? क्योंकि जो स्थिति साधनसे बनायी जाती है, वह सदा नहीं रहेगी। साधन अर्थात् कर्ताका प्रयत्न। कर्ता प्रयत्न करनेमें पूरा स्वतन्त्र नहीं है। सुषुप्तिमें, समाधिमें, मृत्युमें सारे प्रयत्न छूट जाते हैं। अतः जब मनुष्य साधनके द्वारा कोई स्थिति बनाता है तो वह सदाके लिए नहीं बनती। जैसे बन्दूक उठाकर निशाना लगाया तो चौबीस घण्टे बन्दूक सीधी नहीं रख सकते। यह बन्दूक सीधी करना उतनी देरके लिए है, जितनी देरमें लक्ष्य-वेध हो जाय। अतः बात क्या होनी चाहिए ?

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥

जबतक आत्मा और परमात्माकी एकताका बोध नहीं हो जाता है, तबतक समाधि एवं श्रवणादि करे। बोध ऐसी वस्तु है जो समाधिमें भी रहता है और व्यवहारमें भी रहता है; किन्तु समाधि व्यवहारमें टूट जाती है। व्यवहार समाधिमें छूट जाता है। समाधि व्यवहारमें नहीं, व्यवहार समाधिमें नहीं। अतः एक ऐसी वस्तु होनी चाहिए जो समाधि और विक्षेप दोनोंमें एक सरीखी हो। वह बनायी हुई नहीं होनी चाहिए। वह सत्यका ज्ञान है।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥३०॥

देहाभिमानके नष्ट हो जानेपर और परमात्म-ज्ञान हो जानेपर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ समाधि ही है।

जहाँ-जहाँ मन जाता है—समाधि है। घटाकार, स्त्री-आकार,

पुरुषाकार वृत्ति समाधि है। जो भी वृत्ति बने या कोई वृत्ति न बने, सब समय समाधि है।

कब ?

जब अखण्ड एकरस ब्रह्मात्मैक्य बोध हो गया और देहाभिमान गलित हो गया।

यह शरीर अनेक तत्त्वोंसे बना है। जैसे मोटर अनेक पुर्जोंसे बनती है। इस देहको 'मैं' समझना सर्वथा अध्याहार्य है—उधार लिया है। यह तो कह सकते हैं कि जन्म लेनेके समय, माताके गर्भमें और पिताके देहमें भी मैं कुछ था; लेकिन क्या था, यह नहीं कह सकते।

एक महात्मा थे। उनकी आयु एक सौ वर्षकी थी। श्रीहरि बाबाजी महाराज उनके दर्शन करने गये थे। मैं दो-तीन बार उनके पास गया था। वे मसनदके सहारे पड़े रहते थे। प्रायः कम ही बोलते थे। उनसे कुछ कहलानेकी एक ही रीति थी। उनका पैर छूकर कोई कहता—'महाराज, आपका विवाह करने आये हैं!'

झट मसनद छोड़कर बैठ जाते—'मेरा विवाह होगा ?'

'हाँ।'

'अच्छा, लड़की कैसी है ?'

'महाराज, सोलह वर्षकी है।'

'अहा, तब तो बड़ा आनन्द है।' यह प्रारम्भ करके बातें करने लगते थे। फिर ईश्वरकी, सत्सङ्गकी जो भी चर्चा करो, करते थे। नहीं तो वैसे बोलते नहीं थे। जहाँ-जहाँ मन गया, वहाँ-वहाँ इसका नाम समाधि है।

जन्म लेनेके बाद तुम्हारा नाम लोगोंने रखा और लोगोंने जाति, वर्ण, आश्रमादिके संस्कार तुम्हारे मनमें बैठा दिये। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो। तुम्हारे साथ न जन्म लगा है, न आश्रम, न कर्म, न भोग ही लगा है। लेकिन—

न हि सत्यमधिगम्य अध्यारोपितं निवर्तते।

सत्यका अधिगम हुए बिना जो बातें अपने सिरमें ठूँस दी गयी है, वे निकल नहीं सकतीं। अतः—

साक्षित्वमारोप्य कर्मभोगादिसम्बन्धं निवर्तयति।

साक्षित्वका तुममें आरोप करके कर्म-भोगादिका जो सम्बन्ध है, उसे श्रुति निवृत्त करती है।

जो दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध स्थिति थी—बहिर्देशके सम्बन्ध एवं नाम-रूपको छोड़ देनेपर जो शुद्ध-बुद्ध परमात्मा सन्मात्र मालूम पड़ता था और जो भीतर आकार, विकार, नामको छोड़ देनेपर शुद्ध सन्मात्र मालूम पड़ता था, ये दोनों दो नहीं हैं। अखण्ड एकरस सद्वस्तु है और उसमें न बाहर नाम-रूप है, न भीतर नाम-रूप है, न बाहर दृश्य या शब्दका अनुवेध है—न भीतर। यह परमात्माका विज्ञान हो गया—साक्षादपरोक्षानुभव हो गया। इसके बाद मनको पकड़कर रखना नहीं है। समाधि लगानी नहीं है। समाधि ही मनके पीछे लगी डोलती है।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

अज्ञानियोंको अपने मनको समाधिके पीछे चलाना पड़ता है और तत्त्वज्ञानीके मनके पीछे-पीछे समाधि डोलती है। जहाँ मन गया, वहीं दीख गया—'अरे दृश्य नहीं है। दृश्य तो अध्यस्त है। वस्तुतः अधिष्ठान ही है।' जहाँ मन गया—'यह आकर नहीं है, यह तो ज्ञान है' तत्काल समाधि हो गयी।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।

वह एक स्थानपर टिका खड़ा रहता है; किन्तु जो दौड़नेवाले दूसरे मन और इन्द्रियाँ हैं, उनका अतिक्रमण कर जाता है। जहाँ-जहाँ जाते हैं, देखते हैं—यह तो यहाँ भी है। अतः जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं समाधि है।

● संगति

शास्त्रका सिद्धान्त है कि सच्चाईकी खोज करनेसे भयकी निवृत्ति होती है। श्रीमद्भागवतमें जहाँ मनोविकारोंको दूर करनेके नुस्खे बतलाये, वहाँ कहा गया—

भयं तत्त्वावमर्शनात् ।

अपने जीवनमें-से भय कैसे जाय ? सच्चाईकी खोज करो। तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हारी हानि करनेवाला कोई दूसरा नहीं है। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो। तुम्हारी कोई हानि नहीं हो सकती। अतः न डरो, न डराओ। जीवन्मुक्त पुरुष किसीसे डरता नहीं और किसीको डराता भी नहीं। संयोग-वियोग, मृत्यु-बुढ़ापा, रोग—ये सब मनमें ही होते हैं।

जहाँ-जहाँ मन जाता है—वहीं-वहीं समाधि है, यह सुन लेने और मान लेनेकी वस्तु नहीं है। मान लेनेसे साक्षात्कार नहीं हो जायगा। मनमें चार प्रकारसे समाधि होती है—

१. किसी भी आकारका आलम्बन लेकर।

२. प्रियताका आलम्बन लेकर 'अयं प्रियः।'

३. 'अहं प्रियः' इस आलम्बनसे।

४. इन तीनोंकी शान्तिसे।

लोक-सेवा प्रथम समाधिका विलास है। सब परमेश्वरका स्वरूप है। 'अयं प्रियः' मानसिक समाधि है। उपासना इसका विलास है। 'अहं प्रियः' इसका विलास योग है। इन तीनोंकी शान्तिसे निर्विकल्प समाधि होती है।

जब नाम-रूपको पृथक् कर देनेका अभ्यास हो जायगा, तब मन जहाँ जायगा, वहीं तत्त्वको देखेगा। नाम-रूप ऐन्द्रियक ज्ञान है। इन्द्रियोंने इन्हें बाहरसे थोपा है। इन्द्रियोंसे जो दीखता है, उसे अलग करके तथ्यको देखो।

वेदान्तकी मुख्य प्रक्रिया अध्यारोप करके उसका अपवाद कर देना है, किन्तु वेदान्तके विद्वान् तीन प्रकारसे समझाते हैं। भेदका निषेध कर दो; क्योंकि सब-के-सब भेद बौद्धिक होते हैं। बुद्धिगत भेद-भ्रमको निवृत्त कर देना पहिली बात है। दूसरी बात है अन्वय-व्यतिरेकसे कार्यरूप प्रपञ्चको कारणमें लीन करके कार्य-कारण कल्पनाका परित्याग कर दो। दृष्टि-सृष्टिवादमें केवल दृष्टिगत भेद-भ्रमकी निवृत्ति ही इष्ट है। कार्य-कारण विचारमें कार्यको कारणसे अनन्य समझकर यह समझना है कि कार्य-कारण दोनों अपने स्वरूपमें बिना हुए ही भासते हैं।

तीसरी प्रक्रिया है—'ऐतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो।'

एक 'नेति-नेति' द्वारा, एक कार्य-कारण विलापन द्वारा, तीसरी सर्वात्मबोध है—अपना स्वरूप ही परमात्मा है, इसका अनुभव कर लेनेपर कि एक ही आत्मा सर्वरूपमें भास रहा है, उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है—किसी भी प्रक्रियासे यह अनुभव हुआ हो। हो जानेपर—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥३१॥

हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह नष्ट हो जाते हैं और उस परावरको देख लेनेवालेके सब कर्म भी समाप्त हो जाते हैं।

यह मन्त्र वेदोंकी मूल संहितामें भी है, उपनिषदोंमें भी है। पुराण तो कोई ऐसा नहीं है, जिसमें यह मन्त्र न हो। यह अठारहों पुराणोंमें और महाभारतमें भी है।

एक बार उसको देखने दो—परमात्माका दर्शन होनेसे पूर्व ही नेत्र मत बन्द करो।

'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—उस परावर परमात्माका साक्षात्कार होता है। अमतत्वेन, अदर्शनत्वेन साक्षात्कार होता है। 'परमात्मामें दर्शन नहीं है'—यही दर्शन होता है। 'परमात्मा दृश्य नहीं है'—यही दर्शन होता है। 'परमात्मा ज्ञान नहीं होता'—यही ज्ञात होता है।

यह जो अदृष्ट-द्रष्टा है, यह जो अद्वैत आत्मा है, इसका पहले साक्षात्कार होने दो। वह पर और अवर दोनों है। बड़ा भी वही है, छोटा भी वही है। उसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

जो समझते हैं, नेत्र बन्द करके ही परमात्मा दीखता है, वे परमात्माको आधा जानते हैं। जो समझते हैं कि नेत्र खुले रखकर ही परमात्मा दीखता है, बन्द नेत्रसे नहीं, वे भी परमात्माको आधा ही जानते हैं। खुले नेत्रसे भी वही है, बन्द नेत्रसे भी वही है। जो दीखता है वह भी वही है और जो देखता है, वह भी वही है।

'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—एक महात्मा इसका अर्थ करते थे—'परमपि अवरं यस्मात्' संसार जिसे सबसे परे मानता है—प्रकृति, माया, मायाविशिष्ट चैतन्य ये भी जिससे अवर छोटे हैं।' कारण-विशिष्ट, कारणान्तर्यामी चैतन्यसे भी जो पर है।

कार्यकी अपेक्षासे कारण है और कारणकी अपेक्षासे कार्य है।
श्री ब्रह्मानन्द स्वामीकी रचना है—

कारणसत्त्वे कार्यत्वं स्यात् कार्ये सत्ये कारणता स्यात्।
कार्यकारणाभावे कस्माज्जीवेशो वा तत्त्वमसि॥

कारण होवे तब कार्य हो और कार्य होनेपर कारणता होती है। दोनों सापेक्ष हैं। कार्य-कारणका अभाव जो अधिष्ठान है, उसमें जीव और ईश्वर कहाँ? वही जीवेशाभावाधिष्ठान-स्वरूप अद्वितीय ब्रह्मात्मा तुम हो।

'स्वराज्यसिद्धि'में नौ बार आया है—

तत्त्वमसि भावय शुद्धरूपम्।

कार्य-कारण, माया-प्रकृति, विद्या-अविद्या, वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थका सब भेद जिसमें अवर है—कल्पित है, वह परावर है। उस प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है।

'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—पर भी वही, अवर भी वही है। जिससे बड़ा कोई नहीं है और जिससे छोटा भी कोई नहीं है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्।

श्वेताश्वतरोपनिषत्

उसमें छोटा-बड़ा नहीं है।

यस्मान्नज्यायेन्नान्यणिमानस्ति।

जिसको कोई ज्यायान्—बड़ा नहीं है और जिससे कोई अणिमान्—छोटा नहीं है।

जिसका कोई कारण नहीं, जिसका कोई कार्य नहीं, ऐसी वस्तुका साक्षात्कार अविद्या-निवृत्ति मात्र है। जो वाङ्मनसागोचर है—जो वाणीसे बोला नहीं जा सकता, मनसे सोचा नहीं जा सकता, जो साक्षीका भी दृश्य नहीं होता—

न तत्र वाग्गच्छति न मनो गच्छति।

उसे देखा कैसे जा सकता है ?

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

उसको देख लेने-जान लेनेपर—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

हृदयकी गाँठ खुल जाती है। हृत्—जो संसारके संस्कार आहरण करके पकड़ रखता है। 'अयं'—संस्कार रहित अधिष्ठान आत्मा। इन दोनोंकी ग्रन्थिका नाम हृदय है। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञानस्वरूप आत्मदेवको एक अन्तःकरणके साथ जोड़ देना—अन्तःकरणके विक्षेप, कर्म, भोग, परिच्छिन्नताको अपना मान लेना ग्रन्थि है। अन्तःकरणके धर्मको अपनेमें आरोपित कर बैठना और अपनी स्वयंप्रकाश चेतनताको हृदयमें डाल देना, यह परस्पराध्यास ग्रन्थि है।

बाह्यार्थवादी अर्थाध्यास मानते हैं। दृष्टि सृष्टिवादी ज्ञानाध्यास कहते हैं। द्रष्टा-दृश्यका संसर्गाध्यास कोई कहते हैं। यह सम्बन्ध मात्र ही है।

अर्थाध्यासमें अर्थरूपता अविद्या है। संसर्गाध्यासमें संसर्ग ही अविद्या है। ज्ञानाध्यासमें न सम्बन्धकी सत्ता है, न अर्थकी। केवल भ्रम ही भ्रम है।

इस अविद्या-ग्रन्थिका भेदन हो गया। अज्ञानकी गाँठ खुल गयी। हृदय है, पर हृदय-ग्रन्थि नहीं है। तब सब संशय मिट गये कि—'मैं ही अद्वितीय ब्रह्म हूँ या नहीं ?' 'मैं ब्रह्म हूँ तो इस ब्रह्म-रूपका साक्षात्कार होता है या नहीं ?' 'साक्षात्कार होता है तो हमारा कुछ कर्तव्य भी है या नहीं ?' 'कर्त्तव्य नहीं है तो हम

जीवन्मुक्त हैं या नहीं ?' 'हम जीवन्मुक्त भी हैं तो देहपातके बाद हमारी देह-मुक्ति होगी या नहीं ?' 'विदेहमुक्ति होनेपर फिर जन्म होगा या नहीं ?' यह सब संशय-ग्रन्थि है। संशय-ग्रन्थि अर्थात् नींद टूटी नहीं है। 'शय'—शयनवाली धातु ही है। उसीमें 'सं' लग गया तो अच्छी प्रकार सोना हो गया। जागते हुएका लक्षण संशय नहीं है। सारे संशय अविद्यामूलक होते हैं। अविद्या निवृत्त हुई तो सब संशय निवृत्त हो गये। अनेकता है, पर संशय नहीं है।

वस्तुको ठीक ठीक न समझनेसे भ्रम होता है। दूरसे लाल वस्त्र दीखा तो समझे—कोई महात्मा हैं। समीप पहुँचे तो देखा कि महात्मा नहीं, महिला है। वस्तुको जब ठीक देख लिया तो भ्रम मिट गया।

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'—कर्म करनेका दावा मनुष्यको समझाता है कि—'हम ऐसेसे ऐसा बना देंगे।' अर्थात् संसारको बदल देंगे। कर्मीके मनमें पहले अभिमानका उदय होता है, फिर वासना होती है—'यह कर्म करेंगे तो यह भोग मिलेगा।'

कर्मीके मनमें आता है—'अभी हम प्रारब्धका फल भोग रहे हैं। अभी हम क्रियमाण कर्म कर रहे हैं और सञ्चित जुटा रहे हैं।'

तुम्हारे स्वरूपमें यह सब है भी ? परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। सब संशयोंका निवारण हो जाता है। कर्म क्षय हो जाते हैं।

कर्म है, पर उसमें बीजत्व अब नहीं है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'—संचित भी गया, क्रियमाण भी गया, प्रारब्ध भी गया। बुरे कर्म करनेपर जो उस समय या कभी आगे ग्लानिका उदय होता है—उसको मिटानेके लिए प्रायश्चित्त किया जाता है।

जीवन्मुक्त पुरुषमें ये चारों प्रकारके कर्म नहीं होते । ज्ञानी पुरुषके जीवनमें अदृष्टकी उत्पत्ति नहीं होती ।

एतदेव खलु अमृतत्वमिति ।

इतना ही अमृतत्व है कि आप अपनेको जान जायँ ।

तमेवं विदित्वामृतमिव भवति ।

परमात्माको जानकर अमृत हो जाता है ।

- **संगति**

आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है । निर्मल है । निःसम्बन्ध है । निर्भाव है, निष्कर्म है । केवल देहावच्छिन्न चैतन्य साक्षीमात्र है ।

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः ।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥३२॥

अवच्छिन्न, चिदाभास और स्वप्नकल्पित यह तीन प्रकारके जीव हैं । इनमें पहिला पारमार्थिक है ।

अवच्छेद्य—अवच्छेदक-अवच्छिन्न—जैसे घड़ेमें आकाश है तो क्या आकाश घड़ेमें घिर गया है ? आकाश ज्यों-का-त्यों है । घड़ेकी दीवारके कारण आकाशके घिर जानेका भ्रम होता है । उपाधिसे जिसमें अवच्छेद हुआ, वह वस्तु वास्तवमें टुकड़े नहीं हुई ।

उप = पास, आधि = रखा हुआ । जो पास रखी है, वह उपाधि है । यह देह घड़ा है । इस घड़ेके भीतर जो आकाश है, वह बाहरके आकाशसे कटा नहीं है ।

देहमें देहके बराबर आकाश है—यह पिण्डाकाश है । एक ब्रह्माण्डाकाश है । एक महाकाश है जो न पिण्डसे कटता है, न ब्रह्माण्डसे । एक मायाकाश है, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका

आधारभूत आकाश है। एक शुद्धाकाश है। पिण्डाकाश, ब्रह्माण्डाकाश, मायाकाश। शुद्धाकाशमें-से मायाकाशको सगुण कहते हैं। शुद्धाकाशको निर्गुण कहते हैं। ब्रह्माण्डकाशमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश रहते हैं। पिण्डाकाशमें जीव होता है। लेकिन चैतन्य कहीं कटा नहीं। पिण्डदेश, ब्रह्माण्डदेश, मायादेश—इन सबमें शुद्ध देश ही है और वह कहीं अवच्छिन्न नहीं होता। अवच्छिन्न न होनेका अर्थ है न कटना। भ्रान्तिसे ही वह अवच्छिन्न लगता है।

देहकाल, ब्रह्माण्डकाल, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डकाल जो माया काल है; पर जहाँ न पिण्ड है, न ब्रह्माण्ड, न माया—वह शुद्ध काल है। शुद्ध देश, शुद्ध कालका अर्थ है ब्रह्म।

एक सत्तामें देह-सत्ता जहाँ देह बन गया, जहाँ ब्रह्माण्ड बन गया वहाँ ब्रह्माण्ड-सत्ता, जहाँ कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बने वह माया-सत्ता—जहाँ न पिण्ड, न ब्रह्माण्ड, न माया वह शुद्ध सत्ता मात्र ब्रह्म है।

अकाल, अदेश, अद्रव्यको ब्रह्म कहते हैं। उसमें यह पिण्ड, ब्रह्माण्ड और माया सर्वथा कल्पित है।

देहावच्छिन्न चिदाकाशमें जब आप अपनेको रखते हो, तब कर्ता-भोक्ता हो जाते हो। देहावच्छिन्न चैतन्य अपनेको रखो तो शुद्ध चैतन्य हो जाओगे; क्योंकि अवच्छिन्न चेतन और अनवच्छिन्न चेतनमें भेद नहीं होता, क्योंकि अवच्छेदक कोई है ही नहीं।

एक बुद्धिसे अवच्छिन्न है, एक बुद्धिमें प्रतिबिम्बित है—यही लौकिक है। अवच्छिन्न शुद्ध है। आत्मोपलक्षित है।

जो बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चिदाभास है, वह आध्यात्मिक और आधिदैविक है। स्वप्न कल्पित, नरक-स्वर्गमें वही जाता है। शुभाशुभ गति प्राप्त करता है। इस प्रकार जीव तीन प्रकारका मालूम

पड़ता है—१. जाने-आनेवाला, २. सबको जाननेवाला, ३. न जाने आनेवाला, न जाननेवाला, शुद्ध। इन तीनोंमें शुद्ध चैतन्य ही पारमार्थिक अर्थात् सच्चा है।

• संगति

ये तीन प्रकारके जीव जिसके कारण लगते हैं, वह अवच्छेदक क्या है?

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिञ्जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः॥३३॥

अवच्छेद कल्पित है, अवच्छेद्य वास्तविक है। उस अवच्छेदमें जीवभाव आरोपित है। ब्रह्मभाव स्वभावसे है।

चैतन्य इस शरीरमें एक टुकड़ा होकर रह रहा है। यह टुकड़ापना कल्पित है और जिसमें टुकड़ा बनाया गया है, वह सच्चा है। जिसमें टुकड़ेकी कल्पना हुई है, वही सच्चा है। जो टुकड़ा मालूम पड़ता है—वह झूठा है। इसलिए जीवत्व आरोप है और ब्रह्मत्व वास्तविक है।

घटाकाश मिथ्या है, आरोपित है और महाकाश सच्चा है। स्वभावसे आकाश अनन्त है। घड़ेकी उपाधिसे जो परिच्छिन्न लगता है, वह परिच्छिन्नता केवल भासती है। वह परिच्छिन्न हुआ नहीं है। इसी प्रकार इस जीव चैतन्यमें परिच्छिन्नता भासती मात्र है।

• संगति

लोग कहते हैं—'शास्त्र सम्प्रदाय बनाते हैं। लोगोंको घेरेमें डालते हैं। अतः शास्त्र मत मानो। हमारी बात मानो।'

जब तुम कहते हो—'हम जो कहते हैं, वह मानो' तो तुम्हारा बोला भी शास्त्र हो गया। उसमें अनुशासन हो गया।

वेदान्त शासन-शास्त्र नहीं है। यह विधानात्मक या निषेधात्मक शास्त्र नहीं है। जैसे कुतुबनुमा संकेतक-शास्त्र है, वह नहीं कहता कि 'इसे उत्तर मानो।' वह केवल इतना बतलाता है कि 'यह उत्तर है।' वह न उत्तर सिर करके सोनेको मना करता, न उत्तर मुख करके भोजन करनेको कहता। ऐसे ही वेदान्तशास्त्र तथ्यको बतलाता है। यह कहता है—'मिट्टी-पानी-आग-हवा-आकाश ऐसे हैं और सुषुप्ति-समाधि ऐसी है तथा तुम ऐसे हो।' 'तुम ऐसे बनो' यह नहीं कहता।

'कोटि-कोटि घड़ोंमें आकाश एक अखण्ड अद्वय है।' यह मत-सम्प्रदाय नहीं बतलाते। यह सत्य बतलाया जाता है। इस देह-रूपी घडोंमें 'मैं-मैं' तो वृत्ति है, वस्तु-तथ्य चैतन्य है। वह न देहके कारण कटा, न प्राणके कारण कटा, न मनके कारण कटा, न विज्ञानके कारण कटा, न आनन्दके कारण कटा। न सुषुप्ति या समाधिके कारण कटा। एकरस साक्षी चैतन्य अखण्ड है।

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादि वाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ॥३४॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्य अवच्छिन्न जीवकी पूर्ण ब्रह्मके साथ एकता कहते हैं, दूसरे चिदाभास और स्वप्न कल्पितकी एकता नहीं कहते।

तत्त्वमसि आदि महावाक्य बतलाते हैं कि तुम्हारे शरीरके भीतर जो शुद्ध चेतन है, वह अखण्ड ब्रह्म ही है। वह इस देह, मन, प्राणादिसे परिच्छिन्न नहीं है। पूर्ण ब्रह्मके साथ इस शुद्ध चैतन्यकी एकता महावाक्य बतलाते हैं।

चिदाभास और स्वप्न कल्पित ये दोनों ब्रह्म नहीं हैं। ये बाधित हैं। चिदाभास ब्रह्म नहीं है, क्योंकि एक आदमी पापी है, दूसरा पुण्यात्मा है। जो पुण्यात्मा है, वह चिदाभास है। जो पापी है, वह भी चिदाभास है। जो सुखी है, वह भी चिदाभास है। जो दुःखी है, वह भी चिदाभास है। ये पाप-पुण्यका फल भोग रहे हैं। जो पशु है, वह भी चिदाभास है। जो मनुष्य है, वह भी चिदाभास है। लेकिन चैतन्य न पशु है—न पक्षी, न मनुष्य। वह न पापी है—न पुण्यात्मा।

अद्वैत वेदान्तियोंका उपासकोंसे मतभेद केवल इतना ही है कि वे कहते हैं—'सौ रुपयेसे एक रुपया जुदा नहीं होता। इसलिए ईश्वरसे जीव अलग नहीं है।' यह उपासक सिद्धान्त है। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं—'सौ रुपयेके एक नोटमें सौ-पना कल्पित है। यदि एक-एक रुपयेके सौ नोट हैं तो सौ रुपयेके नोट होनेपर भी प्रत्येक पृथक् हैं।'

आत्मदेव स्वभावसे सौ रुपयेके नोट हैं। इनमें एक-एक रुपयेके सौ नोट कल्पित हैं। ये अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्म हैं।

प्रत्ययीप्रत्ययश्चैव यदाभासौ तदर्थता।
तयोरपि गुणत्वाच्च चैतन्ये कल्पितं फलम्॥

एक होता है प्रत्यय और एक होता है प्रत्ययी। एक होता है प्रमाण, एक होता है प्रमाता। ये हर शरीरमें अलग-अलग रहते हैं। प्रमाण अपने फलको प्रमातामें ले जाकर आरोपित करता है। देखता है आभास—जीव और ब्रह्मकी एकताको और फल जाता है कूटस्थमें। क्योंकि आभासकी वास्तविक आत्मा कूटस्थ ही है। सत्यमें पक्षपात होनेके कारण आभास कहता है—'मैं परिच्छिन्न नहीं, अपरिच्छिन्न हूँ।' कूटस्थ ब्रह्म है। घटाकाश महाकाश है।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य परिपूर्ण परब्रह्म है। द्वैतका कहीं नाम नहीं है।

जिस महाकाशमें घड़ा है, वह आकाश है और जो घड़ेकी दीवारसे घिरा आकाश है, वह घटाकाश है। अब घड़ेमें पानी भर दो। पानीमें बाहरवाले आकाशकी छायासे जो गहराई मालूम पड़ेगी, उसे कहेंगे आभास—जलाकाश। उस जलाकाशमें बादल भी दीख रहे हैं। बादलोंमें बूँद-बूँद जल तो है ही। वह प्रत्येक बूँद भी आकाशको अलग-अलग-सा करती है। उसे मेघाकाश कहते हैं। इस प्रकार एक ही घड़ेमें जो पूर्ण है—वह महाकाश, घड़ेकी दीवारसे घिरा घटाकाश, जलमें प्रतिबिम्बित जलाकाश और जो बूँद-बूँद पानीवाले मेघका प्रतिबिम्बन उसी जलमें होता है, वह मेघाकाश है।

घड़ेमें जो जल है, उसका कारण है मेघमें स्थित जलबिन्दु। महाकाश ब्रह्म है। घटाकाश जीव है—कूटस्थ। जलाकाश आभास है। मेघाकाश बीजात्मा होनेसे ईश्वर है।

वेदान्त आत्मा-ब्रह्मको एक बतलाता है। वह जलाकाश और मेघाकाशको एक नहीं बतलाता। घटाकाश और महाकाशको एक बतलाता है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—'जीव-ईश्वर तो एक ही हैं?'

बाबा—'कहाँ सुन आये हो?'

वह—'सब वेदान्ती कहते हैं कि जीव-ईश्वर एक हैं।'

बाबा—'नहीं, जीव-ईश्वर एक नहीं हैं। जीव उपासक है, ईश्वर उपास्य है।'

वह—'तब क्या वेदान्ती झूठ बोलते हैं?'

बाबा—'वे झूठ नहीं बोलते। जलाकाश और मेघाकाशका जो साक्षी है—जो जीवत्व और ईश्वरत्वका साक्षी है, उस घटाकाश और महाकाश चिन्मात्र ब्रह्ममें एकता है, यह बात वेदान्ती कहते हैं।'

जीव पदके वाक्यार्थ और ईश्वर-पदके वाक्यार्थमें एकता नहीं है। जीव-पदके लक्ष्यार्थ कूटस्थ और ईश्वर-पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्ममें एकता है। वस्तुतः घटाकाश और महाकाश एक है। इस विद्यमान एकता-को वेदान्त बतलाता है। अतः आत्मा ब्रह्मकी एकता न धर्मशास्त्र है, न भक्तिशास्त्र है, न योगशास्त्र है। यह तो तत्त्वका निरू-पण है।

तत्त्वमस्यादि महावाक्य आभास और जगत्की एकता नहीं बतलाते हैं। अखण्ड वस्तु यह और मैंके भेदसे अलग-अलग नहीं हो सकती—यह बतलाते हैं। जो वहमें, यहमें, मैंमें—सबमें अखण्ड है और जिसकी अखण्डतामें यह, वह, मैं कल्पित हैं—केवल भास-मान हैं, उसका निरूपण करते हैं।

● संगति

यह जो बाहर प्रपञ्च दीख रहा है और अपने भीतर जो ना-समझी है, इससे अपनी और ब्रह्मकी अखण्डता छिप गयी। 'मैं जीव हूँ और यह जगत् है। जो दीख रहा है—वह जगत् है, जो देख रहा है, वह जीव है।' यह ब्रह्ममें माया है।

वस्तुतः चिदाभासमें ही ज्ञानी-अज्ञानीका भेद होता है। उसीमें कूटस्थ और ब्रह्मका भेद होता है। भेदमात्र ही दृश्य है। केवल भेद दृश्य है और वह मिथ्या है। भेदबुद्धि दृश्य है और वह मिथ्या है। वस्तु कोई दृश्य नहीं। एक बुद्धिका नाम भेद है। वह बुद्धि अपनेको

न देखकर, दूसरेको देखकर भेद बनाती है। इसलिए भ्रान्तबुद्धिमें ही भेद है।

मायाका अर्थ है कपट। क = ब्रह्म, पट = वस्त्र। 'क'का अर्थ है ब्रह्म, ज्ञान, कारण, उसे जो ढक ले वह कपट। जिसे तुम देखना चाहते हो, उसके और तुम्हारे बीचमें कपटका एक पर्दा बन जाता हैं। पर्देसे हम अपने आपको ही नहीं ढकते हैं, उससे सामनेवाला भी ढक जाता है।

हमारे हृदयमें जो कपट है, वह परमात्माके वास्तविक स्वरूपके दर्शनमें बाधक है। हम अपनेको पूरा प्रकट नहीं करते, वह अपनेको पूरा प्रकट नहीं करता। ईश्वरके पूरी तरह प्रकट होनेमें जो बाधा है, वह इधरका कपट है, उधर माया है। निष्कपट होकर सरल भावसे बालककी भाँति ईश्वरकी ओर चलो। ईश्वर तुम्हारे ऊपर माया नहीं फैलावेगा। जो अपनेपर विश्वास करता है, उसके सामने वज्र भी पिघल जाता है।

ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृत्तिरूपिणी।
आवृत्याखण्डता तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ॥३५॥

ब्रह्ममें स्थित आवरण और विक्षेपशक्तिवाली माया ब्रह्मकी अखण्डताको ढककर उसमें जगत् और जीवकी कल्पना करती है।

सृष्टि प्रकृति या परमाणुसे नहीं हुई, यह मायासे हुई है। यह जो विक्षेप दीखता है, भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ दीख रही हैं और इनके भीतर हमारा साक्षी 'मैं' ढककर कर्ता-भोक्ता हो गया है परमात्मा ढककर नाना रूप हो गया है, यह माया है। इस मायासे— आवरणसे अखण्डता ढक गयी। परमात्मा ढक गया और विक्षेप दीखने लगा तो मायासे ऐसा मालूम पड़ने लगा कि 'यह जगत् है, यह मैं जीव हूँ।'

अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण जो माया-अज्ञान हुआ, उससे पहली कल्पना हुई कि—'मैं परिच्छिन्न हूँ।' तब 'मैं कर्मका कर्ता और उसका फल-भोक्ता हूँ।' फलतः 'मैं संसारमें आने-जाने वाला हूँ।' यह हुआ जीव और जगत्—यह इसलिए है कि इसमें अपनी अखण्डता ढक गयी। तब—'मैं कर्ता, यह कर्म। मैं भोक्ता और यह भोग्य। मैं जाने-आनेवाला, यह जाने-आनेका स्थान।']

● **संगति**

जब 'मैं' कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ तो कर्ता-भोक्ता कौन है? क्योंकि कर्म कर्तृत्वपूर्वक हो रहा है और उसका फल सुख-दुःख भी होता ही है।

जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद् भोक्ता हि कर्मकृत्।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद् भूतभौतिकम्॥३६॥

बुद्धिमें स्थित चिदाभासरूप जीव ही कर्मका कर्ता और भोक्ता है। भूत-भौतिक यह सारा जगत् भोग्य है।

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब हो, ऐसे ही बुद्धिमें चेतनका आभास है—'अचिदमपि चिद्वदाभासतेति चिदाभासः'—जो अचेतन होनेपर भी चेतनकी भाँति प्रतीत हो, वह चिदाभास। जो प्रतिबिम्ब होनेपर भी बिम्बकी भाँति लगे।

मैया यशोदा थालीमें पानी भरकर प्रतिबिम्ब दिखलाकर श्रीकृष्णसे कहतीं—'यही चन्द्रमा है।' लेकिन वह चन्द्र नहीं, चन्द्राभास है। ऐसे ही हमारे अन्तःकरणके पात्रमें वासना-संस्कारका जल भरा है, उसमें अखण्ड चेतनका जो आभास है, वही चिदाभास कहा जाता है। वही चिदाभास अपनेको कर्ता मान लेता है—'मैं यह कर्म करनेवाला हूँ।' फिर अपनेको भोक्ता मान लेता है

और मान लेता है कि—'मेरे अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब मेरा भोग्य है।'

जितना भूत-भौतिक जगत् है—यह भोग्य है। सकाम लोग किसीसे प्रेम नहीं करते; क्योंकि संसारमें उनका प्यारा है।

एकने बहुत बढ़िया मकान बनवाया। वह हमसे बोला—आप वहाँ चलकर थोड़े दिन रहें!'

मैं—'क्यों ?'

वह—'आपके रहनेसे मकान पवित्र हो जायगा।'

मैं—'चलो, वहीं एक दिन हो आते हैं।'

वह—'नहीं, वहाँ कुछ दिन रहिये।'

मैं—'अन्ततः मेरे वहाँ रहनेका तुम्हारा आग्रह क्यों है ?'

वह—'मैं जा रहा हूँ विदेश। आप रहेंगे तो वहाँ स्वच्छता रहेगी, बत्ती जलेगी।'

वह मुझे अपने मनकी रक्षा—स्वच्छताके लिए रखना चाहता था।

जब मनुष्य अपनेको भोक्ता और दूसरोंको भोग्य मान बैठता है तो वह केवल जगत्को ही भोग्य नहीं मानता, वह गुरुको—ईश्वरको भी भोग्य मानता है। वह पदार्थोंसे जैसे रस लेता है, गुरुसे—ईश्वरसे—महात्मासे भी स्वाद लेता है। वह करे चाहे जो भी सेवाका कार्य, अपने सुखके लिए करेगा। जब अपने लिए करेगा तो असंगतासे वञ्चित हो जायगा। इसीका नाम भोक्ता-भोग्य भाव है।

● संगति

यह जीवका-चिदाभासका कर्ता-भोक्ता भाव कबसे है अर्थात् जीव कबसे जाने-आनेवाला बना ?

> अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम्।
> व्यवहारे स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ॥३७॥

अनादि कालसे लेकर मोक्षसे पहले तक ये दोनों (चिदाभास और जगत्) व्यवहारमें लगे हैं, अतः दोनों व्यावहारिक हैं।

अनादिकालसे लेकर जबतक मोक्ष नहीं होता तबतक यह भोक्ता-भोग्यका भाव व्यवहारमें सच्चा है, इसलिए जीव और जगत् दोनों व्यावहारिक हैं।

कर्ता और कर्म, भोक्ता और भोग्य, जाने-आनेवाला संसारी और संसार, यह सब व्यावहारिक है। अपनी परिच्छिन्नता और दूसरेकी परिच्छिन्नता व्यावहारिक है।

बीज-वृक्ष परम्पराकी आदि बुद्धि ग्राह्य नहीं है; किन्तु बीज अग्निमें जला दें तो उसकी परम्पराका अन्त हो जायगा। इसलिए बीज-परम्परा अनादि है। ऐसे ही जीवत्व और जगत् अनादि हैं, क्योंकि काल ही अनादि है। काल अनादि है, अतः उसकी धारामें बहनेवाली बहुत-सी वस्तुएँ अनादि हैं।

संसारकी परम्परा अज्ञानमूलक है। इसे ज्ञानाग्निसे भस्म किया जा सकता है। बीज-वृक्ष दोनों अनादि है; परन्तु दोनोंका अन्त होता है, किन्तु मिट्टीका—उपादानका अन्त नहीं होता।

● **संगति**

आजकल कई लोग स्वयंभू हैं। वे कहते हैं—'हम माया नहीं मानते, अज्ञान नहीं मानते।'

'तब आप व्याख्यान देकर करते क्या हैं?'

'हम सोयेको जगाते हैं। हम केवल नींद तोड़नेके लिए यह बात कहते हैं।'

जैसे बहुत नयी बात कह दी हो; किन्तु आपको जानना चाहिए कि वेदान्तमें अज्ञानके लिए निद्रा शब्दका प्रयोग प्रारम्भसे ही है—

अन्यथाः गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

गौड़पादकारिका

किसी वस्तुको न समझना अर्थात् अज्ञानको निद्रा कहते हैं। अन्यथा ग्रहणको स्वप्न कहते हैं। एकको अनेक देखना, चेतनको जड़ देखना, जहाँ स्थान नहीं है वहाँ स्थान देखना, जहाँ काल नहीं है वहाँ काल देखना स्वप्न है। स्वप्नमें बिना स्थानके स्थान, बिना कालके काल, बिना व्यक्तिके व्यक्ति, बिना अनेकताके अनेकता दिखलायी पड़ती है।

जहाँ वस्तुका ज्ञान न हो, वह निद्रा है। अज्ञानको निद्रा और भ्रान्तिको स्वप्न तो उपनिषदोंमें, योगवासिष्ठमें भी कहा गया है और यहाँ भी कह रहे हैं—

चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृत्तिरूपिणी।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्नेतु कल्पयेत्॥३८॥

चिदाभासमें स्थित विक्षेप और आवरणशक्ति रूपिणी निद्रा

पहलेके जीव-जगत्का आवरण करके नयोंकी कल्पना कर देती है।

श्रुति है—

उत्तिष्ठध्वं जाग्रध्वं अग्निमिच्छध्वं भारत!

उठो! जागो! अग्निकी-प्रकाशकी इच्छा करो।

तुम नींदमें हो—जागो! हम तुम्हारी नींद तोड़ना चाहते हैं।

यह नींद चेतनमें नहीं है। चेतन तो सदा जाग्रत् है। वह सुषुप्ति, स्वप्न, समाधिमें भी जागता है। अन्तःकरणमें जो चिदाभास है, उसकी एक वृत्ति जब आवरण रूपमें रहती है तो उसका नाम सुषुप्ति है और जब वही विक्षेप रूपमें रहती है तो उसका नाम स्वप्न होता है। यही जीव और जगत्के स्वरूपमें पहलेको ढक देती है और नया-नया पैदा करती रहती है।

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।

उठो! जागो! तुम सोये हुए हो। बड़े बूढ़ोंके पास जाकर सुनो। अभिमानमें मत रहो कि हम स्वयं समझ लेंगे।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

जो किसीसे झगड़ा करता है, वह नींदमें है। जिसके मनमें सन्देह है, वह करवट बदल रहा है। जब मनमें होता है—'एक मैं हूँ, एक ईश्वर है, एक जगत् है' तो वह उठकर खड़ा हो गया। यह त्रेतामें है—साधन करनेवाला है। जब परमात्माका साक्षादनुभव हो गया तो वह सत्युगमें पहुँच गया।

नींद आभासमें बैठी है और यह पहलेकी जाग्रतावस्थाके संसारको ढक देती है तथा स्वप्नमें नया जीव-जगत् बना देती है।

● संगति

इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है—वह बतला रहे हैं—

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके ।
न हि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः ॥३९॥

ये प्रातिभासिक हैं कारण कि ये दोनों—स्वप्नके जगत् और जीव प्रतीतिकाल तक ही रहते हैं। स्वप्नसे जो जाग गया, उसकी फिर उसी स्वप्नमें स्थिति नहीं होती।

ये जितनी देर मालूम पड़ते हैं उतनी ही देर रहते हैं—अतः इनको प्रातिभासिक कहते हैं। जो व्यवहार कालमें और परमार्थतः भी बाधित हो जाय, उसको प्रातिभासिक कहते हैं। जैसे कोई स्वप्न देखते-देखते जग गया तब फिर उसे वही स्वप्न नहीं दीखेगा।

● संगति

इस प्रातिभासिक जीव एवं जगत्की स्थिति स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रातिभासिकजीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम् ।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः ॥४०॥

स्वप्नका प्रातिभासिक जीव स्वप्नके प्रातिभासिक जगत्को सच्चा मानता है, किन्तु व्यावहारिक जीव उनको मिथ्या समझता है।

स्वप्नमें जो हजारों जीव हैं, जगत् हैं, वे प्रतीतिकालमें ही हैं। रस्सीकी सत्ता व्यावहारिक है, उसमें सर्पकी प्रतीति प्रातिभासिक है। देखनेवालेकी सत्ता पारमार्थिक है।

प्रातिभासिक सत्ता केवल प्रतीतिकालमें रहती है। प्रतीति-कालके अतिरिक्त कालमें नहीं रहती। स्वप्नके प्रातिभासिक जीवके लिए प्रातिभासिक जगत् होता है, जिसे प्रातिभासिक जीव सच्चा

मानता है; किन्तु व्यावहारिक-स्वप्नसे जगा जीव उसे मिथ्या मानता है।

मनुष्य शरीरमें जो जीव है, वह व्यावहारिक जीव है। स्वप्नसे जगे तो स्वप्नकी गंगा और गंगास्नान करनेवाला भी झूठा हो गया।

- **संगति**

व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत्‌की स्थिति भी प्रातिभासिक जीव एवं प्रातिभासिक जागत्‌के समान ही है।

व्यावहारिकजीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम्।
सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः ॥४१॥

व्यावहारिक जीव अपने व्यावहारिक जगत्‌को सत्य मानता है किन्तु पारमार्थिक इन दोनोंको मिथ्या मानता है।

इस समय जो देहमें बैठा व्यावहारिक जीव है, उसका यह जगत् व्यावहारिक है; क्योंकि—

पुण्यः पुण्येन कर्मण भवति पापः पापेन।

इसमें अपने कर्मसे मनुष्य तर जाता है।

कोई चोरी करे और अपनेको साहूकार बतलाये तो जबतक स्वस्थ रहेगा, यह दम्भ चलेगा। जब बीमार होकर दुर्बल होगा, भीतर मनमें आयेगा—'मैं चोर, मैं चोर।' कितना भी मनोबल हो, जीवन भर अपनेको छिपाकर रखो पर मरते समय देह ढीला पड़ता है, इन्द्रियोंपर वश नहीं रहता, तब अन्तरसे वह पाप जागता है। इसीका नाम व्यवहारसत्ता है। इसमें तुमको कर्ता-भोक्ता बनना पड़ेगा।

जब परमार्थका ज्ञान हो जाता है, तब व्यावहारिक जगत् और व्यावहारिक जीव दोनों बाधित हो जाते हैं।

● संगति

पारमार्थिक जीवका लक्षण क्या है ?

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम् ।
प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना ॥४२॥

पारमार्थिक जीव तो ब्रह्मसे ऐक्यको पारमार्थिक समझता है। दूसरी वस्तुओंको नहीं देखता, यदि देखता भी है तो मिथ्यारूपसे ही देखता है।

पारमार्थिक जीव एक शरीरमें नहीं है। आप कहते हो—'मैं पैरोंसे चलता, हाथोंसे करता, नेत्रोंसे देखता, कानोंसे सुनता, नाकसे सूँघता और जीभसे चखता हूँ।'

ये हाथ-पैर, नेत्र-कर्ण आदि पृथक्-पृथक् हैं और आप एक हैं। आपके मनमें इच्छाएँ बहुत होती हैं, पर आप एक हैं। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको आप जानते हैं। इन्द्रियोंको, शरीरको, संसारको आप जानते हैं, आप साक्षी हैं।

पारमार्थिक जीव साक्षी है। इसमें देश-काल-वस्तु नहीं है। इसमें सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद नहीं है। यह ब्रह्म ही है। इसमें प्रपञ्च बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है।

● संगति

उदाहरण देकर पिछली बातोंको स्पष्ट करते हैं।

माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरङ्गके ।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेप्युगता यथा ॥४३॥

जैसे जलके धर्म मधुरता, द्रवत्व, शीतलता तरंगमें रहते हैं, वैसे ही ये फेनमें भी आते हैं।

जैसे गंगाजल मधुर है, प्रवाही है, शीतल है। उसमें तरंग उठी तो तरंग भी मधुर हैं, प्रवाही है, शीतल है। उसमें एक फेन बना तो वह भी मधुर है, शीतल है, बहता हुआ है।

वस्तुतः न फेन शीतल है, न मधुर है, न प्रवाही है। न तरंग मधुर है, न शीतल है, न प्रवाही है। सच यह है कि जल ही शीतल, मधुर और प्रवाही है। उस जलका धर्म तरंगमें तथा फेनमें प्रतीत होता है।

ऐसे ही आत्मा सच्चिदानन्द है। उसमें शरीर व्यावहारिक तरंग है और स्वप्न फेनके समान हैं। स्वप्न छूट जाते हैं, शरीर बना रहता है। शरीर छूट जाते हैं, परमात्मा बना रहता है। वह परमात्मा ही अपना स्वरूप है।

● **संगति**

फेन दीखता है, पर फेन तो पानी है, तरंग भी पानी है। फेन और तरंग दोनों जल हैं। इसी प्रकार संसारमें जो अस्ति, भाति, प्रिय दीखता है—वह क्या है?

जिससे जो वस्तु दीखती है, वह उससे पृथक् नहीं होती। नेत्रसे हम रूप देखते हैं। नेत्र यदि रूप तन्मात्रासे न बने होते तो रूपको देख नहीं पाते। शब्द तन्मात्रासे बने कान ही शब्द सुनते हैं। गन्ध तन्मात्रासे बनी नाक ही सूँघती है। रस तन्मात्रासे बनी जीभ ही स्वाद-रस लेती है। स्पर्श तन्मात्रासे बनी त्वचा ही स्पर्शानुभव करती है। जो देखता है—वह अपनेसे अभिन्नको ही देखता है।

प्रातिभासिक दशामें जब हम स्वप्नमें किसी वस्तुको देखते हैं

तो अपने आपको ही उस वस्तुके रूपमें देखते हैं। इसी प्रकार व्यवहार-दशामें हम कुछ देखते हैं तो अपने आपको ही व्यवहारके रूपमें देखते हैं।

परमार्थ यह है कि साक्षी ब्रह्म है अर्थात् अपने आपके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है। हम अपने आपको ही देख रहे हैं। भूल यह है कि हम अपने आपको ही पराया समझते हैं। हमारा मन शत्रु है या मित्र है, उसे हम दूसरा समझते हैं। हम ही मन हैं।

द्रष्टा-दृश्य-विवेकमें शत-प्रतिशत भूल यही है कि हम समझते हैं कि घड़ेसे मिट्टी न्यारी है तो मिट्टीसे घड़ा भी न्यारा है। दृश्यसे द्रष्टा न्यारा होता है, परन्तु द्रष्टासे दृश्य न्यारा नहीं है। जैसे मिट्टीसे घड़ा न्यारा नहीं है।

सृष्टिसे ईश्वर निराला है, परन्तु ईश्वरसे सृष्टि निराली नहीं है—यह वैष्णव मत है।

कार्यसे कारण निराला होता है, परन्तु कारणसे कार्य निराला नहीं होता।

जैसे स्वप्नमें सब अपना आपा है, वैसे जाग्रत्में भी सब अपना आपा ही है। यह देशका प्रसार, कालका प्रवाह, वस्तुओंका परिवर्तन—ये सब ज्ञानके ही अनबदले; किन्तु बदलते-से दीखते रूप हैं।

साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद् व्यावहारिके।
तद् द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ॥४४॥

साक्षीमें स्थित सच्चिदानन्द व्यावहारिक जीवोंमें जाते हैं और उसके माध्यमसे प्रातिभासिकमें भी जाते हैं।

जिसका जन्म-मरण हम अनुभव न कर सकें वह सत् है। हम अपना जन्म-मरण अनुभव नहीं कर सकते।

आत्मा कभी जाना नहीं जाता। सबको वही जानता है, अतः आत्मा चित् है।

आत्मा कभी अप्रिय नहीं होता, अतः आत्मा आनन्द है।

अपना आत्मा ही सच्चा ज्ञान है। अपना आत्मा ही सच्चा आनन्द है। अपना आत्मा ही अविनाशी सत्ता है।

काल बदलता जा रहा है। देश बदलता जा रहा है। वस्तुएँ बदलती जा रही हैं। अपना आपा एक सरीखा है।

यह परमार्थरूप साक्षी ही जाग्रत् और स्वप्नके रूपमें भासता है। अतः साक्षीके धर्म जाग्रत्के व्यावहारिक जीवमें भासते हैं। जाग्रत्का व्यावहारिक जीव ही स्वप्नमें प्रातिभासिक जीव होता है, अतः साक्षीके जो धर्म जाग्रत्के व्यावहारिक जीवनमें आये, वे उसके माध्यमसे प्रातिभासिक जीवमें भी भासते हैं।

● **संगति**

अन्वयसे कहकर वही बात व्यतिरेकसे कही जा रही है।

लये फेनस्य तद्धर्माः द्रवाद्याः स्युस्तरंगके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥४५॥

फेनके लय होनेपर मधुरता, शीतलता, द्रवता धर्म जो उसमें तरंगसे आये थे, तरंगमें चले जाते हैं और तरंगके लय होनेपर जलमें वैसे ही रहते हैं जैसे पहलेसे ही थे।

जाँच करो कि फेन क्या है तो देखोगे कि वह तरंग ही है और तरंगकी जाँच करो तो वह जल ही है। फेन और तरंगमें मिठास, शीतलता, द्रवता जलकी है।

आकार नामकी कोई वस्तु नहीं है। सृष्टि ब्रह्मात्मक है। सृष्टि परमात्मा है। फेन लय हुआ तो तरङ्ग रह गयी। तरङ्ग लय हुई तो मल रह गया। फेन और तरङ्ग थी तब भी उनके रूपमें जल ही था।

● **संगति**

दृष्टान्तसे जो बात कही गयी—फेन और तरंगके माध्यमसे, उसे दार्ष्टान्तमें स्पष्ट करते हैं।

प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ॥४६॥

प्रातिभासिक जीवका लय होनेपर सत्-चित्-आनन्द धर्म व्यावहारिक जीवमें रहते हैं और उसका भी लय हो जानेपर वे साक्षीमें पर्यवसित होते हैं।

घड़े-मिट्टीका दृष्टान्त कार्य-कारणका दृष्टान्त है; किन्तु कार्य-कारण भाव कल्पित ही है। क्योंकि घड़ा मिट्टीसे पृथक् नहीं है। जल-तरंगका दृष्टान्त भी कार्य-कारणका है; परन्तु द्रवका है। चिनगारी-अग्निका दृष्टान्त खण्ड-खण्डका है। वायुका दृष्टान्त औपाधिक है। आकाशका दृष्टान्त मिथ्या परिच्छेदका दृष्टान्त है। स्वप्नका दृष्टान्त मानसिक है। रज्जु सर्पका दृष्टान्त बौद्धिक भ्रमका दृष्टान्त है।

अपने स्वरूपमें जो जीवपना है, वह बौद्धिक भ्रम है—अध्यास है। अतः प्रातिभासिकपनेको छोड़ो—व्यावहारिकपनेमें आ जाओ तो मनुष्य हो।

मनुष्यमें जो अस्ति, भाति, प्रिय है वह कहाँसे आया? साक्षीमें-से आया। साक्षी कैसा? बहते हुए कालसे न्यारा, फैलते-सिकुड़ते देशसे न्यारा, नानाकारोंमें परिवर्तित होते पदार्थसे न्यारा। ऐसा न्यारा कि इन सबके अभावका भी अधिष्ठान।

जो जिसके अभावका अधिष्ठान होता है, उसमें वह वस्तु मिथ्या होती है। अतः आत्मब्रह्ममें प्रपञ्च मिथ्या है।

न तुम प्रातिभासिक जीव हो स्वप्नके ज्ञाता, न तुम व्यावहारिक जीव हो प्रपञ्चके ज्ञाता। तुम तो साक्षी हो और साक्षी ब्रह्म है। ब्रह्म ही सच्चिदानन्द है। यह जो चिदाभास काम कर रहा है, इसे अपने साक्षीसे पृथक् मत रहने दो।

बोधात्पुरापिचिद्भ्रान्त्यामग्नो भोक्ता रोर्धसि।
सा भ्रान्तिर्भोक्तृनिष्ठैव तद्विवेकोऽपि भोक्तृजः॥

जबतक ज्ञान नहीं होता, तबतक भोक्ताको ही चेतन समझकर—कर्ताको ही चेतन समझकर उसीमें डूब जाते हैं। यह भ्रान्ति भी भोक्तामें है और भ्रान्तिको निवृत्त करनेवाला वृत्तिज्ञान भी भोक्तामें ही है। भ्रान्ति और भ्रान्ति-निवर्तक बोध दोनों ही भोग हैं। भ्रान्ति भी आरोपित है और उसका निवर्तक ज्ञान भी आरोपित ही है। इसीसे वेदान्त-शास्त्रने घोषणा की—

दृश्योपरागरूपा मे साक्षिता न तु तात्त्विकी।
उपलक्षणमेवैतन्निस्तरङ्गचिदाम्बुधेः ॥

यह तो दृश्यको देखते हैं, इसलिए हमने अपना रूप साक्षी रख लिया है। साक्षी और साक्ष्यके भावसे रहित निस्तरंग चित्समुद्रको लखानेकी यह भी एक युक्ति है। वस्तुतः—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

माण्डूक्यकारिका, २, ३२.

न समाधि है, न मृत्यु है, न प्रलय है; क्योंकि कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई। कोई बन्धन नहीं है, फिर साधना किसकी निवृत्तिके लिए होगी। न मुमुक्षु है, न मुक्त है। इसका नाम है परमार्थ।

साधो सहज समाधि भली।

उपसंहार

सन्त कबीरजी कभी-कभी निराश हो जाया करते थे। वे कहते हैं—

मैं केहि केहि समझावौं सब जग अन्धा।

वैराग्यका सुनना सरल नहीं है। आजके श्रोता तो चिढ़ जाया करते हैं। लेकिन देखो कि यदि तुम्हारे आत्मामें कोई सौन्दर्य नहीं है, तुम्हारे स्वभावमें सौन्दर्य-माधुर्य नहीं है तो यह चमड़ेका सौन्दर्य-माधुर्य और संसारके साधन टिकनेवाले नहीं हैं।

सत्यकी चार कक्षा है। चार्वाकका कहना है—'ब्रह्म, ईश्वर, चैतन्य कुछ नहीं है। केवल जड़ता ही है। इस जड़में स्वप्नकी भाँति चेतनता उत्पन्न होकर मिट जाती है। जीव, ईश्वर, ब्रह्म स्वप्नवत् हैं और जड़ सत्य है।'

बौद्ध कहते हैं—'केवल जीव, ईश्वर, ब्रह्म ही स्वप्नवत् नहीं हैं; जड़ जगत् भी स्वप्नवत् है। जड़ता और चेतनता दोनों क्षणिक विज्ञान ही हैं। विज्ञान क्षण-क्षण परिवर्तनशील है।'

तीसरा मत है—'जड़-चेतन दोनों सत्य हैं।' इसके दो विभाग हैं। उनमें-से एक कहता है—'जड़ता सत्य है; किन्तु इसमें ईश्वर चैतन्य मुख्य है, जीव चैतन्य गौण है।'

दूसरा मानता है—'जड़ सत्य है; किन्तु जीव चैतन्य ही मुख्य है।'

विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शैवाद्वैत, शाक्ताद्वैत आदि ईश्वर-चैतन्यको मुख्य और जीव-चैतन्य तथा जड़ जगत्को गौण कहते हैं। ईश्वर स्वतन्त्र है, जीव परतन्त्र है। जगत् ईश्वरकी सृष्टि है।

सांख्य और योग कहते हैं—'ईश्वर चैतन्य मुख्य नहीं है, आत्म चैतन्य ही मुख्य है।' ये 'त्वं' पदार्थका शुद्ध विवेक करके प्रत्यक् चैतन्यकी श्रेष्ठता बतलाते हैं और जगत्को सत्य मानते हैं।

जो ईश्वर चैतन्यको मुख्य माननेवाले हैं, उनके मतमें जड़ सत्ताका अवमूल्यन हो गया। ईश्वर अनादि, अनन्त, एकरस है। ईश्वर ही कभी जगत्को बनाता है और कभी मिटाता है। वही जगत्पालक है। उसीके आधारपर जगत् है।

सांख्य और योग जगत् तथा चैतन्य दोनोंको अनादि-अनन्त मानते हैं। ये विवेक-विचारको मुख्य मानते हैं। समाधिमें स्व-रूपानुभव करते हैं।

जैसे चार्वाक् चेतन सत्ताको नहीं मानता, जीव-ईश्वरको स्वप्नवत् मानता है, ऐसे ही वेदान्ती अखण्ड चैतन्यको सत्य मानते हैं और जड़को स्वप्नवत् मानते हैं। चार्वाक जड़ाद्वैतवादी है। अद्वैत वेदान्त चेतना द्वैतवादी है।

द्रष्टा-दृश्यका विभाग माननेवाले द्वैतवादी हैं। उनकी असंगता पहले नहीं रहती, फिर उत्पन्न होती है। थोड़ी देर रहती है, फिर मिट जाती है।

अद्वैत वेदान्तमें द्वैतकी सत्ता न होनेके कारण जो असंगता है, वह अनादि-अनन्त है। असंगता अबाधित है। अर्थात् जिस समय हम अपनेको कर्ता-भोक्ता, जन्मने-मरनेवाला, देह-इन्द्रियवान् मानते हैं, उस समय भी ऐसे नहीं हैं। यह स्वाप्निक प्रतीति है। अज्ञानी भले अपनेको ब्रह्म नहीं जानता, परन्तु वस्तुतः वह ब्रह्म ही है।

यह व्यवहारमें जो लगता है कि 'यह वस्तु है, प्रकाशवान् है, इसमें प्रियता है' यह आत्मसत्ता, आत्मप्रकाश, आत्मप्रियता ही संसारकी सब दीखनेवाली वस्तुओंमें अनुगत होती है। यह आत्म-देव अपनी ही सत्ताको दूसरेके रूपमें देखते हैं। जैसे स्वप्नमें देखते हैं। अपने ज्ञानको दूसरेमें देखते हैं। अपनी प्रियता ही दूसरेमें देखते हैं।

वस्तुतः हम हैं। हमारे अस्तित्वसे ही दूसरेका अस्तित्व भासता है। लेकिन हम भ्रान्तिसे उस दूसरेके अस्तित्वको सच्चा मान लेते हैं और अपने अस्तित्वको भूल जाते हैं। दो नम्बरके ज्ञानको सच्चा मान लेते हैं और एक नम्बरके ज्ञानको भूल जाते हैं। दो नम्बरकी प्रियताको सच्ची मान लेते हैं और एक नम्बरकी प्रियताको भूल जाते हैं।

अद्वैत वेदान्त शिक्षा देता है—तुम्हारा आत्मा ब्रह्म है अर्थात् अद्वितीय है। तुम्हारे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है। सब तुम्हीं हो।

जिन लोगोंके मनमें धर्म-कर्मके बहुत संस्कार होते हैं—वे समझते हैं कि धर्म यहाँ करते हैं और उसका फल स्वर्गमें मरनेके बाद मिलता है। उपासना यहाँ करते हैं और उसका फल भगवान्के लोकमें मरनेके बाद मिलता है। समाधि यहाँ लगाते हैं और उसका फल मरनेके बाद मुक्ति होती है। इस बातका संस्कार मनुष्यके मनमें इतना प्रबल बैठा है कि जब वह वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है तो समझता है कि शायद मरनेके बाद वेदान्तका फल मिलेगा। मरनेके बाद ही विदेह कैवल्य होगा।

दूसरा संस्कार है—जीवनभर हमारी ब्रह्माकार-वृत्ति रहेगी, तब हमको ब्रह्म मिलेगा।

एकबार विद्वानोंकी सभा थी। उसमें एक विद्वान्‌ने कहा—'जैसे यज्ञ करनेसे अदृष्ट उत्पन्न होता है, वैसे वेदान्तके श्रवण-मनन निदिध्यासनसे भी अदृष्ट उत्पन्न होता होगा और मरनेपर जैसे यज्ञके फलसे स्वर्ग मिलता है, वैसे मरनेके बाद वेदान्तके श्रवणादिके फलसे ब्रह्म-प्राप्ति होगी।'

उन्हें एक सन्तने डाँटा—'क्या बोलते हो। वेदान्त वर्तमान जीवनमें-से कर्तापन मिटानेके लिए है। वर्तमान जीवनमें-से ही भोक्तापन मिटानेके लिए है। हम जो अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, आने-जानेवाला, अन्तर्मुख-बहिर्मुख आदि समझकर बैठे हैं, यह समझ नहीं—नासमझी है। इस नासमझीको मिटानेके लिए वेदान्त है। केवल न जाननेसे ही सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और जाननेमात्रसे ही सब अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है।'

यदि ज्ञानसे ही सारे दुःख न मिट जाते तो वेदान्त-दर्शन ज्ञानसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'से क्यों प्रारम्भ होता ?

'अनावृत्तिः शब्दात्।' इस प्रकार ज्ञानसे सारे दुःख न मिट जाते तो वेदान्त ज्ञानसे समाप्ति क्यों करता।

इसका अर्थ है कि जितना दुःख-सुख, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, आना-जाना है, यह सब केवल अज्ञानके कारण है। केवल नासमझीके कारण है। वेदान्त इस नासमझीको मिटा देता है।

कबीरने कहा—

बाहर कहौं तो जग भय लागै।
भीतर कहौं तो घूंघट काढ़ै॥

बाहर कहते हैं तो जगतमें आवे कैसे और भीतर कहते हैं तो अवगुंठनमें आगया—आवरणमें पड़ गया।

ऐसा नहीं तो वैसा लो।
न ऐसा है, न वैसा है, कबिरा कहै अनूठा लो ॥

'दृष्टि-मुष्टि नहिं प्रगट अगोचर'—यह न दृष्टिमें है—ज्ञानका विषय नहीं और न मुष्टिमें है—कर्मका विषय भी नहीं है। सर्वथा प्रकट है, पर इन्द्रियोंसे दीखता नहीं है। तत्त्वतः बात तो यह है—

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार ॥

पाया कहै सो बावरा, खोया कहै सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्योंका त्यों भरपूर ॥



वाक्यसुधा

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता

वाक्यसुधा

श्रीमद्ब्रह्मानन्दभारती—प्रक्लृप्तया टीकया सहिता

यस्मात् सर्वं समुत्पन्नं चराचरमिदं जगत् ।
इदं नमो नटेशाय तस्मै कारुण्यरूपिणे ॥१॥
कारणं खादिजगतां तारणार्थमनागसाम् ।
वारणाननमात्मानमद्वयं समुपास्महे ॥२॥
परापश्यन्त्यादिदेहां प्रणताभीष्टदायिनीम् ।
सत्यज्ञानानन्दरूपां ध्याये ह्याद्यां सरस्वतीम् ॥३॥
नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
मया वाक्यसुधाटीका यथामति विरच्यते ॥४॥
न ख्यातिर्लाभपूजे च टीकाकरणकारणम् ।
न विद्वत्ताबलं वाऽत्र मुक्तिरेवात्र कारणम् ॥५॥

प्रारीप्सितस्य ग्रन्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तिप्रचयगमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च केवलकूटस्थप्रत्यग्बोधरूपपरमात्मस्वरूपानुस्मरणलक्षणं मङ्गलमाचरन् सच्चिदानन्दाखण्डैकरसस्वरूपावस्थानलक्षणस्य मोक्षस्य तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थापरोक्षज्ञानफलत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्य चान्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थपरिशोधनपूर्वकत्वात् पदार्थपरिशोधनस्य प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धं निरूपणीयमिति न्यायेन प्रतिशरीरमहमहमिति प्रसिद्धजीव-

वाचकत्वंपदार्थपरिशोधनपूर्वकत्वात् श्रीमच्छारीरकमहाशास्त्रे श्रीमद्भाष्यकारैः प्रतिपादितमर्थं हृदि निधाय प्राण्यनुजिघृक्षया दृग्दृश्यविवेकद्वारा प्राधान्येन त्वंपदार्थपरिशोधनपरमिदं प्रकरणमारभमाणः परमकृपानिधिः [1]श्रीभारतीतीर्थगुरुः प्रकरणप्रतिपाद्यमानमर्थं संक्षिप्य प्रथमश्लोकेन तावद्दर्शयति—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम् ।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥१॥

रूपमिति ॥ लोके चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं यद्रूपमस्ति तत्सर्वं दृश्यं भवति तद्ग्राहकं चक्षुरिन्द्रियं स्वग्राह्यापेक्षया दृग्भवति तथा तत्पुनश्चक्षुरिन्द्रियं स्वस्मादप्यान्तरस्य मनसो दृश्यं भवति स्वभास्यचक्षुरिन्द्रियापेक्षया मानसमपि दृग्भवति द्रष्टृ भवति। मनसः सर्वेन्द्रियावभासकत्वसामर्थ्यं द्योतयति तु शब्दो, धीवृत्तयोऽन्तःकरणस्य वक्ष्यमाणवृत्तयस्तदविद्याकार्यत्वेन जडरूपत्वाद् दृश्या भवन्ति, साक्षी शरीरत्रयविलक्षणः प्रत्यगात्मा दृगेव भवति द्रष्टैव भवति। एवकारेणार्थाद्दृश्यत्वे निषिद्धेऽपि कण्ठतोऽपि दृश्यत्वं निषेधयन् प्रत्यगात्मनो द्रष्टृत्वमेव द्रढयति न तु दृश्यते इति । साक्षिणि वर्त्तमानस्य दृक्त्वस्य सर्वान्तरत्वे सापेक्षितत्वाभावात् ततस्तस्य लोचनमानसयोर्वर्त्तमानदृक्त्ववैलक्षण्यं द्योतयति द्वितीयस्तु शब्दः, साक्षिणः दृश्यत्वमप्रामाणिकमिति यस्मात्तस्मात्कालत्रयेऽपि दृक्त्वमेवास्य स्वरूपमिति भावः ॥१॥

एवं प्रकरणे प्रतिपाद्यमानमर्थं संक्षिप्य प्रथमश्लोकेन दर्शयित्वा इदानीं प्रथमश्लोकस्य प्रथमपादेन दर्शितमर्थं द्वितीयश्लोकेन स्पष्टयति—

---

१. श्रीभारतीतीर्थगुरुरिति । अनेन वाक्यसुधाकृद् भारतीतीर्थ इति प्रतीयते ।

नीलपीतस्थूलसूक्ष्मह्रस्वदीर्घादिभेदतः ।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा ॥२॥

नीलेति ॥ दृश्यत्वदृक्त्वयोर्नानात्वैकत्वहेतुकत्वान्नीलपीताद्यनेकभेदभिन्नत्वेन दृश्यत्वं प्राप्तानि रूपाणि चक्षुरिन्द्रियं स्वयं स्वग्राह्यरूपभेदानुकूलस्वरूपभेदमगृहीत्वैव एकरूपेणैव पश्येत् गृह्णीयात् अत एवास्य दृक्त्वं स्यादिति भावः ॥२॥

एवं प्रथमश्लोकस्य द्वितीयपादोक्तमर्थं स्पष्टीकुर्वन् चक्षुरिन्द्रिये प्रदर्शितन्यायं श्रोत्रादीन्द्रियेष्वप्यतिदिशति—

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा ।
सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम् ॥३॥

आन्ध्यमिति ॥ आन्ध्यं नाम सामान्याकारेणापि स्वविषयग्रहणासामर्थ्यं विषयसामान्याकारग्राहकत्वं मान्द्यं स्वविषयसूक्ष्मविशेषाकारग्रहणसामर्थ्यं पटुत्वम् । एवमत्र नेत्रधर्मेषु आन्ध्यमान्द्यादिभेदादिभेदभिन्नेष्वपि नानात्वेनैव हेतुना भासमानान् तान्नेत्रधर्मान् भास्यभेदानुरूपस्वरूपभेदमगृहीत्वैकरूपेणैव मनः सङ्कल्पयेत् मम चक्षुरन्धं मम चक्षुर्मन्दं मम चक्षुः पट्विति, अत एवास्य मनसो दृक्त्वं भवतीत्यर्थः । श्रोत्रत्वगादीत्यत्र चशब्दः सम्बद्ध्यते, श्रोत्रत्वग्जिह्वाघ्राणेष्वपीदं स्वविषयापेक्षया दृक्त्वं स्वभासकमानसापेक्षया दृश्यत्वं यथोचितं वाधिर्य्यादिकञ्च योज्यतामुह्यतामित्यर्थः । एकस्मिन्निन्द्रिये दृग्दृश्यविवेकं दर्शयित्वा श्रोत्रादीन्द्रियान्तरेष्वप्येवं योज्यतामित्यतिदिशति । आचार्यस्य स्वशिष्यैः स्वबुद्ध्या क्रियमाणो दृग्दृश्यविवेक एव पुरुषार्थोपायो भवतीत्यभिप्रायः ॥३॥

प्रथमश्लोकस्योत्तरार्द्धं साक्षी दृगेवेत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रदर्शितमर्थं विशदयति—

कामः सङ्कल्पसन्देहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे ।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः ॥४॥

काम इति ॥ रज्ज्वज्ञानाद्रज्ज्वारोपितान् सर्पादीन् रज्जुरिव स्वाज्ञानात्स्वस्मिन्नारोपितान् कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति बृहदारण्यकश्रुत्युक्तानादिशब्देन संगृहीतानैतरेयोपनिषद्युक्तान् संज्ञादींश्च स्वरूपज्ञानापनोद्यानेतान् सर्वानप्यन्तःकरणवृत्तिविशेषान्स्वगतादिभेदरहितसच्चिदानन्दलक्षणब्रह्माभिन्नकूटस्थप्रत्यग्रूपा सर्वसाक्षिणी चितिरेकधा भासयति विकारकारणाभावात् स्वभास्याऽवस्तुभूतविकारानुरूपं स्वगतविकारमन्तरेणाप्येकरूपेणैव प्रकाशयतीति यावत् ॥४॥

इन्द्रियमनसोरुक्तन्यायेन उक्तलक्षणायाश्चितेरपि दृश्यत्वं स्यादित्याशङ्कायां दृश्यत्वस्य द्रष्टृपूर्वकत्वाच्चितेर्द्रष्टृत्वेन चित्यन्तराङ्गीकारेणानवस्थाख्यो दोषः स्यात्, चितेश्चितिरेव द्रष्ट्रीत्यस्मिन् पक्षेऽपि कर्मकर्तृविरोधः स्यात् । तस्मात् प्रकाशान्तरनिरपेक्षतया स्वयंप्रकाशमानायाश्चितेर्दृश्यत्वं न स्यादित्यर्थतो दर्शयन् मुखतः स्वव्यतिरिक्तान्तःकरणादियुष्मदर्थेभ्यश्चितेर्वैलक्षण्यं न तु दृश्यते इत्यंशविवरणेनानेन श्लोकेन दर्शयति—

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना ॥५॥

नोदेतीति ॥ यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति श्रुत्युक्तप्रकारेण विद्वदपरोक्षतां चितेरर्थात्सूचयन् उक्तलक्षणां चितिं परामृशत्येषेति । सर्वसाक्षिण्येषा चितिरहमादियुष्मदर्थवत् प्रागभावाभावान्नोदेति नोत्पद्यते प्रध्वंसाभावाभावान्नास्तमेत्यन्तं विनाशं न प्राप्नोति

वृद्धिक्षयो ताभ्यामुपलक्षितौ अस्तित्वपरिणामौ च न प्राप्नोति सर्वथाऽप्येकरूपत्वादुत्पत्त्यनन्तरं भाविव्यावहारिकास्तित्वमेव विकारान्तःपातित्वेन निषिध्यते न तु स्वरूपास्तित्वं तस्याविकारित्वेन निषेद्धुमशक्यत्वाच्चितेः षड्भावविकाररहितत्वे हेतुं दर्शयति स्वयं विभातीति। एषा चितिः स्वस्य प्रकाशान्तरनिरपेक्षतया स्वयंप्रकाशमाना सती सच्चिदानन्दात्मकस्वरूपप्रकाशानन्तरमेव स्वव्यतिरिक्तान्यखिलान्यारोपितवस्तूनि भासयेत् प्रकाशयेत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती' ति श्रुतेः। सविकल्पस्य ज्ञानस्य निर्विकल्पकज्ञानपूर्वकत्वाच्चात्रानुमानद्वयं सूचितम्, अस्मत्प्रत्ययविषया एषा चितिः षड्भावविकाररहिता प्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानत्वाद्यत्षड्भावविकाररहितं न भवति तत्प्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानमपि न भवति यथा युष्मत्प्रत्ययविषयोऽहमादिः, उक्तलक्षणा एषा चितिः षड्भावविकाररहिता प्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण स्वव्यतिरिक्तवस्त्ववभासकत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथाऽहमादिरित्येवमुक्तप्रकारेण स्वयंप्रकाशमानत्वात् षड्भावविकाररहितत्वाच्च युष्मदर्थवैलक्षण्ये समर्थिते सति चितेः कालत्रयेऽपि दृक्त्वमेव स्वरूपं न तु दृश्यत्वमित्यर्थात्समर्थितं भवति, 'अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मतमविज्ञातं विज्ञातृ न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येन्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया' इत्यादि श्रुतिसहस्रेणाप्ययमेवार्थस्तात्पर्य्येण प्रतिपाद्यत इत्यतो युष्मत्प्रत्ययविषयान्तःकरणादिरूपं दृश्यमेवास्मत्प्रत्ययावलम्बनभूतायाः प्रत्यक्चितेः स्वरूपं दृक्त्वमेवातः प्रत्यक्चितिरेव परं ब्रह्मेत्ययमेवाभिप्रेतार्थः ॥५॥

ननु युष्मदर्थावभासकत्वं प्रथमश्लोके साक्षिण इत्युक्तं। अत्र तु चितेरित्युक्तमतः पूर्वापरविरोध इति चेन्नैष दोषः, प्रथमश्लोकोक्तसाक्षिण एवात्र चितिशब्देन परामृष्टत्वात् तस्यैव पुनः

प्रथमश्लोकार्थविवरणेन प्रकरणपरिसमाप्तिपर्यन्तेनोत्तरग्रन्थसन्दर्भेणापि तत्र तत्र साक्षिशब्देन परामृष्टत्वात्साक्षी चितिश्चिच्चैतन्यं ज्ञानं बोधः प्रत्यगात्मा कूटस्थः इत्यादिशब्दानामेकार्थपर्य्यवसायित्वाच्च। ननु तर्हि युष्मदर्थस्यान्तःकरणस्य सापेक्षकं दृक्त्वमपि न सम्भवति भौतिकत्वेन जडात्मकत्वाद्घटादिवत्। 'द्रष्टरि नास्ति दृश्यत्वं दृश्यस्य द्रष्टृता न हि। दृश्यरूपस्य कुड्यादेर्द्रष्टृता न हि दृश्यते'॥ इति पुराणवचनाच्च, तथा सति तस्य संसारो नोपपद्यते। अथवा पूर्वोक्तप्रकारेणाहमादिविलक्षणस्य कूटस्थस्य स्वयंप्रकाशप्रत्यग्बोधरूपस्य साक्षिणश्च जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो नोपपद्यते तस्यासङ्गोदासीनत्वात्, योऽसंसारी न भवति सोऽसङ्ग उदासीनोऽपि न भवति यथाहमादिः, 'असङ्गोह्यायं पुरुष' इत्यादि श्रुतिसद्भावाद्धेतुरसिद्धो न भवत्येवमुक्तप्रकारेणान्तःकरणतत्साक्षिणोरुभयोरसंसारित्वे समर्थिते सति निवर्त्यसंसाराभावात् तन्निवर्त्तकज्ञानस्यापि नैरर्थक्यं स्यात्ततस्तज्ज्ञानप्रतिपादकवेदान्तवाक्यानामप्यप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यात्। पुनरुक्तलक्षणस्याशेषविशेषशून्यस्य साक्षिणः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तषष्ठ्यादिरहितत्वेन वेदान्तवाक्यैर्विधिमुखेन प्रतिपाद्यमानत्वासम्भवादतस्तन्निरसनमात्रेण तद्रूपाप्रसिद्धेश्च शास्त्रस्याप्रामाण्यं प्रसज्येत एवं परम्परयानेकदोषसम्भवात्साक्षिणः कूटस्थत्वस्वयंप्रकाशमानत्वादिकमप्यप्रामाणिकं स्यादित्यनेकदोषमाशङ्क्यान्तःकरणप्रतिफलितानिर्वचनीयचिच्छायाङ्गीकारे सति सर्वोऽपि दोषः परिहृतः स्यादित्यभिप्रेत्य चिच्छायां तावदङ्गीकरोति—

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहङ्कृतिरन्या स्यादन्तःकरणरूपिणी ॥६॥

चिच्छायेति ॥ चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं रजतसुवर्णादिवद्बहु-

विधपरिणामार्हमन्तःकरणाख्यं द्रव्यमत्र बुद्धिशब्देन धीशब्देन चोच्यते तस्यान्तःकरणस्य कर्तृस्वरूपवृत्तिमदंशोऽहङ्कृतिशब्देनोच्यते करणस्वरूपमनःशब्दवाच्यार्हमिदमात्मिकवृत्त्यंशोऽन्तःकरणशब्देनोच्यते तत्र श्रोत्रादिकरणापेक्षया अन्तःकरणत्वादन्तःकरणं बुध्यते अनया चिच्छायावेशतः। चिच्छाया चित्प्रतिबिम्बं तस्या आवेशोऽनुप्रवेशस्ततोऽस्वरूपमिति बुद्धिस्तस्यां भानं स्यात् स्वभावतो जडरूपाप्यनुप्रविष्टचैतन्यबलाद्बुद्धिः स्वयंप्रकाशमानेव भवतीति यावत्। धीस्तु द्विधा। तुशब्दोऽवधारणे। भ्रामकसन्निधौ लोहवत् साक्षिसन्निधौ बहुविधचेष्टां स्थिता कुर्वती सा धीर्द्विधैव स्थिता तयोर्मध्ये एका धीरहङ्कृतिशब्दवाच्यकर्तृरूपा स्यादन्या धीर्मनःशब्दवाच्यऽन्तःकरणरूपिणी स्यात् कामादीनां संज्ञादीनाञ्च सर्वेषामप्यन्तःकरणपरिणामविशेषाणां मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येष्ववन्तःकरणचतुष्टयेष्वन्तर्भूतत्वात्। बुद्धिचित्तयोरपि यथाक्रममहङ्कारमनसोरेवान्तर्भूतत्वाद्वृत्तिमद्वृत्तिलक्षणाकारद्वयव्यतिरिक्तान्तःकरणाकारान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् चित्कर्मभूता बुद्धिः स्वविकारानुकारिणाऽनुप्रविष्टचैतन्येन सहिताऽहङ्कारमनःशब्दवाच्यकर्तृकरणात्मकवृत्तिमवृत्तिलक्षणाकारद्वयेनैकावस्थितेति भावः ॥६॥

उक्तलक्षणयोरहङ्कारमनसोर्मध्येऽहङ्कारस्य चिच्छायया सह तप्तायःपिण्डवत् तादात्म्यात् तेन सच्चिदाभासाहङ्कारेण तादात्म्याज्जडरूपोऽपि देहश्चेतनत्वं प्राप्नुयादित्याह—

छायाहङ्कारयोरैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम्।
तदहङ्कारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामगात् ॥७॥

छायेति॥ छायाहङ्कारयोश्चिदाभासकर्त्रोरैक्यं तप्तायःपिण्डवद्वह्निसम्बन्धेन तद्रूपं तप्तायःपिण्डवन्मतमभिप्रेतं यथा दृष्टान्ते अयमग्निरिदमय इति पृथक्करणमशक्यं तथा दार्ष्टान्तिकेऽप्ययम-

हङ्कारं इयं चिच्छायेत्यहङ्कारस्वरूपस्य ,तत्रानुप्रविष्टचिच्छाया-स्वरूपस्य च पृथक्करणमशक्यमिति भावः। तदहङ्कारतादात्म्यात्= तेन चिच्छायासहितेनाहङ्कारेण तादात्म्यात् =सोऽहङ्कार आत्मा नाम स्वरूपं यस्य देहस्य स तदात्मा तस्य भावस्तादात्म्यं सम्बन्ध इत्यर्थः। तस्माद्देहः स्थूलशरीरं स्वयं जडरूपमपि चेतनतां चेतनं ज्ञानं तस्य भावश्चेतनता तां ज्ञानस्वरूपतामगात्प्राप्नुयादित्यर्थः। यथा पयसि परीक्षणार्थं प्रक्षिप्तो मरकतमणिः पयोशेषमात्मच्छायं कुर्यात् तथा स्वभावत एव सर्वान्तरः कूटस्थोऽसङ्गबोधरूपः साक्ष्यप्यहङ्कारादिस्थूलदेहपर्य्यन्तमशेषं युष्मदर्थमात्मच्छायं कुरुत इति भावः ॥७॥

नन्वेवमहङ्कारस्य चिच्छायादेहाभ्यां तादात्म्ये सत्यहं पश्या-म्यहं शृणोमीत्यादेरनुभवसिद्धत्वादिन्द्रियैरपि तादात्म्यमस्ती-त्याशङ्क्य इन्द्रियाणां स्वस्वगोलकस्थानमन्तरेण स्वस्वविषय-ग्रहणसामर्थ्याभावाद्, गोलकानाञ्च स्थूलशरीरावयवत्वादवयवाव-यविनोर्भेदाभावान्मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहं कृष्णकेशोऽह-मित्यादिवदहं चक्षुरहं श्रोत्रमित्याद्यनुभवाभावात् कस्त्वमिति पृष्टे अहमिति वदतो देहस्यैव स्पृश्यमानत्वाच्चेन्द्रियतादात्म्यस्यापि देहतादात्म्येऽन्तर्भूतत्वात् पृथक् न निरूपणीयमित्यहङ्कारस्य सम्बन्ध्युद्देशद्वारेण तादात्म्यस्येयत्तां दर्शयति—

अहङ्कारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यञ्च त्रिविधं क्रमात् ॥८॥

अहङ्कारस्येति ॥ अहङ्कारस्येत्युक्तलक्षणस्य कर्त्तुः चिच्छाया-देहसाक्षिभिः चिच्छायया देहेन साक्षिणा च सह क्रमात् सम्बन्ध्यु-द्देशक्रमेण त्रिविधं त्रिप्रकारं तादात्म्यं सम्बन्धस्तेषां तादात्म्यानां सदर्थानि नामानि कल्पयति सहजं चिच्छायाहङ्कारयोर्यत्तादात्म्यं तत्सम्बन्धिनोरुभयोरपि उत्पत्तिकाले सहैव जायते इति सहज-

मित्युच्यते। कर्मजं उक्तलक्षणाहङ्कारस्य देहस्य च यत्तादात्म्यं तदन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रद्भोगप्रदकर्मणैव जायते इति कर्मज-मित्युच्यते, भ्रान्तिजन्यमधिष्ठानयाथात्म्याज्ञानं भ्रान्तिशब्देनोच्यते अहङ्कारसाक्षिणोर्यत्तादात्म्यं तदनाद्यनिर्वचनीयभ्रान्त्यैव जायते इति भ्रान्तिजन्यमित्युच्यते। तादात्म्यत्रयसमुच्चयार्थश्चशब्दः। अत्रायं प्रयोगः, अहङ्कारसाक्षिणोस्तादाम्यमधिष्ठानयाथात्म्याज्ञान-जन्यमधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानापोनोद्यत्वात् यद्यदधिष्ठानयाथात्म्य-ज्ञानापनोद्यन्तत्तदधिष्ठानयाथात्म्याज्ञानजन्यं यथा रज्जुसर्पादीनां तादात्म्यं तथा चेदमधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानापनोद्यं तस्मादधिष्ठान-याथात्म्याज्ञानजन्यमेवेति। एवमहङ्कारस्य चिच्छायादेहसाक्षिभिः सम्बन्ध्युद्देशक्रमेणैवोक्तलक्षणं त्रिविधं तादात्म्यमस्तीति शेषः ॥८॥

ननु तर्हि 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'—एवम-नादिरनन्तो नैःसर्गिकोऽयमिति' च श्रीभगवद्भाष्यकाराभ्यामुक्त-त्वादहङ्कारसाक्षिणोस्तादात्म्यस्य निवृत्तिर्नास्त्यत एव निःशेष-दुःखोच्छित्तिनिरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणमोक्षोऽप्याशामात्रमित्या-शङ्क्य ब्रह्मात्मज्ञानपर्यन्तमेव भ्रान्तिजन्यतादात्म्यस्याऽविनाशित्वेन ताभ्यां विवक्षितत्वादन्यथा स्ववाक्याविरोधात् सर्वेषामपि मोक्ष-शास्त्राणामप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च मुमुक्षुणामपि सर्वेषां मोक्षविषय-श्रवणादिप्रवृत्त्यभावाच्च कर्मजन्यतादात्म्यनिवृत्तेश्च प्रतिदिनं सुषुप्तावनुभूतत्वाच्च सहजतादात्म्यातिरिक्तयोरपि तादात्म्ययोः स्वस्वकारणनाशद्वारा निवृत्तिरस्त्येव सहजतादात्म्यस्य तु सहज-त्वादेव निवृत्तिर्नास्तीत्याह—

सम्बन्धिनोस्सतोर्नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्त्तेते क्रमादुभे ॥९॥

सम्बन्धीति ॥ सम्बन्धिनोः सतोः परस्परसम्बन्धित्वेनैवोत्प-द्यमानयोरुत्पत्तिकाले एव सम्बन्धिनोरित्यर्थः। तुशब्दोऽवधारणे।

सहजतादात्म्यस्येतरतादात्म्यवैलक्षण्यद्योतनार्थो वा। उक्तलक्षणयोश्चिच्छायाऽहङ्कारयोः सहजाख्यस्य तादात्म्यस्य निवृत्तिर्नास्त्येव परस्परं पृथग्भावो न सम्भवत्येव सुषुप्तिमूर्च्छामरणादौ जाग्रद्भोगप्रदकर्मक्षयात् जाग्रत्काले श्रुत्याचार्यानुग्रहबलेनाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्काराच्च कर्मजन्यभ्रान्तिजन्याख्ये उभे अपि तादात्म्ये निमित्ताभावान्नैमित्तिकस्याप्यभाव इति न्यायेन क्रमान्निवर्त्तते कर्मक्षयात् कर्मजं तादात्म्यं निवर्त्तते अहङ्कारदेहाख्यावुभावपि सम्बन्धिनौ परस्परसम्बन्धं त्यजत इत्यर्थः। प्रबोधादप्रबोधक्षये सति भ्रान्तिजन्यमपि तादात्म्यं निवर्त्तते प्रबोधानन्तरं साक्षिसम्बन्धराहित्येनाप्यहङ्कारप्रतीतिरन्यदृष्ट्यैव स्वदृष्ट्या निवर्त्तते यथा शुक्तिकाज्ञानात्तत्स्वरूपाज्ञाने नष्टे सति तत्रैव रजतं लीयते तथा स्वरूपपरिज्ञानात् स्वरूपापरिज्ञाने नष्टे सति स्वस्मिन्नेवाहङ्कारो लीयते एव ॥९॥

संक्षेपेणावस्थात्रयस्वरूपमन्वयव्यतिरेकाभ्यां देहस्याचेतनत्वञ्च दर्शयति—

अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहोऽप्यचेतनः।
अहंकारविकासार्द्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ॥१०॥

अहङ्कारेति ॥ स्थूलसूक्ष्मभोगद्वयप्रदकर्मक्षयात्स्वकारणाज्ञाने अहङ्कारे लीने सति तदहङ्कारलयावस्था सुषुप्तिरित्युच्यते। तस्यामवस्थायां पूर्वमहङ्कारसम्बन्धाच्चेतनत्वेन भातो देहोऽप्यचेतनो भवेत्। 'अन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवती' त्यादिश्रुतेः/अहङ्कृतिविकासार्द्धः स्वप्नः सूक्ष्मभोगकर्मण्युद्बुद्धे सति तद्वशात् स्वकारणाज्ञानादुत्पन्नस्याहङ्कारस्य स्वव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावेऽपि जाग्रज्जनितसंस्कारमात्ररूपभोगार्थं स्थूलशरीराभिमानमन्तरेणापि शरीरस्यान्तः सूक्ष्मनाडीप्रचारो यः स एव तस्याहङ्कारस्यार्द्धविकासः स एव स्वप्न इत्युच्यते, तत्रा-

हङ्कारव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावे श्रुतिः "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ती" त्यादिः। सर्वस्तु जागरः स्थूलभोगप्रदकर्मण्युद्बुद्धे सति तद्वशादापादमस्तकं स्थूलदेहेऽभिव्याप्तस्याहङ्कारस्य सर्वेन्द्रियैः सर्वविषयज्ञानं यत्स एव तस्याहङ्कारस्य पूर्णविकासस्तदेव जागरणमित्युच्यते। अस्यामवस्थायां पुनरहङ्कारसम्बन्धाद्देहः पूर्ववच्चेतनत्वेन भासते उभयत्राहङ्कारे समाने स्वप्नाज्जागरितस्येन्द्रियविषयसङ्गात्मकवैलक्षण्यद्योतनार्थस्तुशब्दः। अत्र दर्शितेऽवस्थात्रयलक्षणे माण्डूक्यतापनीयाद्युपनिषदः प्रमाणानि, "दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे प्रतिष्ठितः' 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितं, करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः, सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारो बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिरि' त्यादीनि श्रीमद्गौडपादाचार्य्यभगवत्पादाचार्य्यादिपूर्वाचार्यवचनानि च ॥१०॥

एवं कर्तृव्यापारं निरूप्य करणस्यापि क्रियाव्याप्यत्वं तत्क्रियां दर्शयति—

अन्तःकरणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता ।
वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान्बहिः ॥११॥

अन्तःकरणेति ॥ अन्तःकरणं चासौ वृत्तिश्चेत्यन्तःकरणवृत्तिः सच्चिदाभासकर्तृरूपवृत्तिमदपेक्षया करणभूतं मनःशब्दवाच्याहमिदमात्मिका वृत्तिरिति यावत्। वृत्तिश्चेति चकारेण छायाहङ्कारैक्यविषये प्रदर्शितो दृष्टान्तादिरवस्थात्रयेऽप्यहङ्कारवत्सङ्कोचविकासादिश्चात्रापि समान इति द्योत्यते, उक्तलक्षणा सा वृत्तिश्च सुषुप्तौ लीयते सा पुनः सूक्ष्मभोगप्रदकर्मवशादुत्पत्तिसमये चिच्छायया तप्तायःपिण्डवदैक्यं प्राप्ता सती स्वप्नावस्थायां नाडीमध्ये कर्तृकरणकर्मक्रियात्मकव्यवहारवासनाः कल्पयेत्। सैव पुनः स्थूलभोगप्रदकर्मवशात्स्थूलशरीरेणैक्यं प्राप्ता सती जाग्रदवस्थायां

श्रोत्रादीन्द्रियैः शब्दादिविषयान्बहिः कल्पयेत् । ननु बाह्यविषयाणामीश्वरसृष्टत्वेनान्तःकरणकल्पितत्वमयुक्तमिति चेन्नैष दोषः, स्वरूपमात्रस्येश्वरसृष्टत्वेऽपि भोग्यत्वाकारस्यान्तःकरणकल्पितत्वात् । "करणं कर्म कर्त्ता च क्रिया स्वप्ने फलञ्च धीः । जाग्रत्येवं यतो दृष्टे" त्याचार्य्यवचनाच्च ॥११॥

एकमेवान्तःकरणं व्यवहारसौकर्य्यार्थमहङ्कारमनोभेदेनावयवशो विभज्य प्रदर्शयित्वा (प्रदर्श्य) इदानीमहङ्कारस्यापि मनोऽपेक्षया कर्तृरूपत्वेऽपि चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानमित्यत्र बुद्धिशब्देन निर्दिष्टान्तःकरणाख्यद्रव्यापेक्षया करणत्वात्तस्यैव सर्वसंसारनिर्वर्त्तकत्वेन मुख्यकर्तृत्वात् मुख्याहङ्कारत्वाच्चाहङ्कारमनोविभागपूर्वावस्थालक्षणस्य तस्यान्तःकरणाख्यद्रव्यस्य स्वरूपं दर्शयति—

मनोऽहङ्कृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम् ।
अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ॥१२॥

मन इति ॥ मनोऽहङ्कृत्योरुपादानं कारणं यत्तन्मनोहङ्कृत्युपादानं, किन्तल्लिङ्गं लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गमन्तःकरणाख्यं द्रव्यमित्यर्थः । तस्यैवाहं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकारवृत्तिद्वारेण सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मगमकत्वात् । ननु तत्त्वविवेकाख्ये ग्रन्थे "बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया । शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥" इति सप्तदशावयवात्मकस्य सूक्ष्मशरीरस्यैव लिङ्गत्वमुक्तं नान्तःकरणस्य लिङ्गत्वमुपपद्यते इत्याशङ्क्य बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकानां वेदान्तेषु भौतिकत्वेन श्रुतत्वेऽपि "अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमि' त्यादिश्रुतिष्वन्तःकरणाधीनत्वश्रवणादत एवाहङ्कारमनःसहितानां तेषां ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकान्तःकरणवृत्तित्वाद् वृत्तिमतोर्व्यावहारिकभेदविवक्षया तत्रोक्तत्वात्तयोः पारमार्थिकाभेदविवक्षयैवात्रोक्त-

त्वात्तद्विवक्षाभेदेन पक्षद्वयस्याप्युपपन्नत्वादुक्तलक्षणस्यान्तःकरणस्य सूक्ष्मशरीरत्वं लिङ्गत्वञ्चोपपद्यते एवेत्यभिप्रायेणाह एकमिति। एवमुक्तलक्षणमन्तःकरणं स्वभावतो जडमप्यनुप्रविष्टचिच्छायाबलेनैव स्थूलशरीरमप्यात्मत्वेनैव गृहीत्वा पूर्वोक्तसङ्कोचविकासप्रकारेणानुदिनमवस्थात्रयं प्राप्नोति। यथा कर्मवशादवस्थात्रयं प्राप्नोति तथा जननमरणादिकञ्च कर्मवशात्प्राप्नोतीत्यर्थः। जायते म्रियते इत्युक्त्वाऽनन्तरं तथाशब्दप्रयोक्तुर्धर्माधर्मवशाद् घटीयन्त्रवत्पौनःपुन्येन जन्ममरणे प्राप्नोतीत्यभिप्रायः। "शोकहर्षभयक्रोध-लोभमोहस्पृहादयः। अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः। एवं दुःखाद्यनुभवन् संसारेऽस्मिन्पुमान् मुने। घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जायते म्रियते च सः॥' इत्यादिपुराणवचनात् ॥१२॥

एवं निखिलसंसारनिर्वाहकलिङ्गशरीरस्वरूपं निरूप्येदानीमस्य लिङ्गस्य विराडन्तसमस्तप्रपञ्चस्य मूलकारणभूतायाः सच्चिदानन्दब्रह्माश्रयाया अविद्याऽज्ञानतमोमोहादिशब्दवाच्यायाः सर्वानर्थबीजभूताया अनिर्वचनीयायाः मायायाः स्वरूपं तच्छक्तिद्वारेण विभज्य दर्शयितुं तच्छक्तेरियत्तां तावद्दर्शयति—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ॥१३॥

शक्तिद्वयमिति॥ उक्तलक्षणमायाया आवरणशक्तिर्विक्षेपशक्तिरितिद्वयमस्तीति शेषः। "जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती' त्यादिवेदान्तवाक्येषु मायायाः शक्तिद्वयमावृतिविक्षेपात्मकं प्रसिद्धमिति शास्त्रप्रसिद्धिं द्योतयति हिशब्दः। अधिष्ठानमनाच्छाद्य विक्षेपयितुमशक्यत्वेन विक्षेपशक्तेः आवरणशक्तिपूर्वकत्वादत एवावरणशक्तेरभ्यर्हितत्वेऽपि छान्दोभङ्गभयाद्विक्षेपशब्दपूर्वनिपातः कृतः। एवं शक्तेरियत्तामुक्त्वा इदानीं सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मात्मस्वरूपमात्राच्छादिकायाः विक्षेपशक्त्य-

भिव्यक्तेः पूर्वावस्थालक्षणायाः आवरणशक्तेः सर्वानर्थबीजत्वेनाग्र्यत्वेऽपि विक्षेपशक्तेर्नैरपेक्ष्येण ब्रह्मानन्दानुभवं तिरस्कृत्य सांसारिकसुखदुःखादिभोगप्रदत्वसामर्थ्याभावात्प्रतिदिनं सुषुप्तावनुभूतत्वेनास्मिन्नर्थे कस्यापि विप्रतिपत्त्यसम्भवात् विक्षेपशक्त्यभिव्यक्त्यनन्तरं तया सृष्टस्याहङ्कारादिदेहान्तस्य युष्मदर्थस्य, शरीरत्रयविलक्षणस्य कूटस्थासङ्गबोधरूपस्य साक्षिणश्च स्वभावसिद्धं भेदं सैवावरणशक्तिर्येनांशेनावृणोति तस्यैवांशस्य सुखित्वदुःखित्वाद्यनेकविधसंसारकारणत्वात्तादृशावरणशक्त्यंशस्योक्तरीत्या विक्षेपशक्त्यनन्तरभावित्वात्तदपेक्षया विक्षेपशक्तेरग्र्यत्वादनेनैवाभिप्रायेणावरणशक्तिस्वरूपं पश्चान्निरूपयिष्यन् विक्षेपशक्तिस्वरूपं तान्निरूपयति, विविधं करणं विक्षेपः विविधं भानं भवनं वा सा चासौ शक्तिश्चेति विक्षेपशक्तिः, अध्यात्मं विश्वतैजसप्राज्ञादिभेदेनाधिदैवतं विराट्हिरण्यगर्भान्तर्याम्यादिभेदेन च स्वगतादिभेदरहितं चिन्मात्रं विक्षेपयतीति विक्षेपशक्तिरुक्तलक्षणं चिन्मात्रमनया विक्षिप्यते इति वा गिरिनदीसमुद्राद्यनेकनामरूपाकारेण स्वयमेव विक्षिपति नामरूपाद्याकारेण परिणमते विवर्त्तते इत्यर्थः। एवमिति विक्षेपशक्तिर्जायते पुनर्लयं गच्छतीति जगदुक्तलक्षणा सा शक्तिरुक्तलक्षणं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं लिङ्गशरीरादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदुत्पादयेदित्यर्थः ॥१३॥

एवं विक्षेपशक्तिस्वरूपं निरूप्य तद्विक्रियात्मकसृष्टिस्वरूपनिरूपणद्वारेणापि तदेव विशदयति—

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत् सर्वनामरूपप्रसारणा ॥१४॥

सृष्टिरिति॥ ब्रह्मस्वरूपे सच्चिदानन्दवस्तुन्यारोपितनामरूपयोरवस्तुत्वादधिष्ठानस्य तद्वैलक्षण्यं द्योतयति वस्तुशब्दः। सच्चिदानन्दश्च तद्वस्तु चेति सच्चिदानन्दवस्तु तस्मिन् परमार्थसच्चिदा-

नन्दलक्षणे ब्रह्मणीत्यर्थः, नाम च रूपं च नामरूपे सर्वे च ते नामरूपे च तयोः प्रसारणा विस्तारो विततिः सृष्टिरित्युच्यते। एतदुक्तं भवति। ब्रह्मण्यवस्थिताया विक्षेपात्मिकायाः मायायास्तस्मिन्नेव ब्रह्मणि समस्तनामरूपाकारेण विवर्त्तनं यत्सैव सृष्टिरित्युच्यते इत्यत्र दृष्टान्तमाह अब्धौ फेनादिवदब्धावस्थितायाः विक्षेपात्मिकायाः मायायास्तत्रैव फेनतरङ्गबुद्बुदाद्याकारेण विवर्त्तनं यथा सृष्टिशब्देनोच्यते तथाऽत्रापीति भावः ॥१४॥

एवं विक्षेपशक्तिद्वारा मायास्वरूपं दर्शयित्वा आवरणशक्तिद्वारेणापि तदेव दर्शयति—

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥१५॥

अन्तरिति ॥ अन्तः स्थूलशरीरस्यान्तर्देशे दृग्दृश्ययोर्भेदम् 'अहमन्नादोऽहमन्नाद' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण शरीरत्रयतादात्म्यवशाद् भोक्तृत्वमापन्नस्य परमार्थतस्तद्रहितस्य केवलदृङ्मात्रस्वरूपस्यास्मदर्थस्य साक्षिणोऽविद्याकार्यत्वेन जडरूपस्याहङ्कारादिदेहान्तस्य युष्मदर्थस्य च भेदमन्योऽन्यवैलक्षण्यमन्योऽन्यपृथग्भावं बहिः शरीरस्य बाह्यदेशे ब्रह्मसर्गयोर्भेदं 'सच्चासच्चाभवत् अहमन्नमहन्न' मित्यादिश्रुत्यनुसारेण नामरूपतादात्म्यवशाद्भोग्यत्वमापन्नस्य परमार्थतस्तद्रहितस्य परब्रह्मणस्तस्मिन् शुक्तिकायां रजतवदध्यस्तनामरूपात्मकस्य सर्गस्य च भेदं एवमन्तरुक्तलक्षणयोर्दृग्दृश्ययोर्भेदम् बहिर्ब्रह्मसर्गयोर्भेदं चापरा शक्तिः पूर्वोक्तरीत्या विक्षेपशक्त्यनन्तर्भावित्वेऽपि स्वरूपतो विक्षेपशक्तिप्रवर्त्तकत्वेन तत्कारणभूता आवरणवाच्या मायाशक्तिरावृणोत्याच्छादयति सा संसारस्य कारणं अन्तर्दृक्स्वरूपस्य साक्षिणः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणस्य संसारस्य सैव कारणं तस्या एवान्योन्याध्यासहेतुत्वेन सर्वानर्थकारित्वादिति भावः, बहिः सच्चिदानन्दलक्षणस्य ब्रह्मणो भोग्य-

त्वादिविकारस्यापि सैव कारणमित्यर्थाल्लभ्यते भोक्तृत्वस्य भोग्यापेक्षत्वात् ॥१५॥

एवं शक्तिद्वयात्मकं मायास्वरूपं प्रदर्श्येदानीं प्रकृतानुसारेण मनोऽहङ्कृत्युपादानमित्यस्मिन् श्लोके सामान्यतो दर्शितं लिङ्गस्वरूपं विशेषतः प्रदर्शयति—

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम् ।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ॥१६॥

साक्षिण इति ॥ चितिच्छायासमावेशादनुप्रविष्टचैतन्यस्य बलात् साक्षिणः प्रत्यगात्मनः पुरतोऽग्रतः कर्मत्वेनेति यावत् । भातं भासमानं, देहेन संयुतं स्थूलशरीरेणैक्यं प्राप्तं, लिङ्गं पूर्वोक्तलक्षणं लिङ्गशरीरं जीवः स्याद्व्यावहारिकः, लोकद्वयेऽपि प्रमात्रादिसमस्तव्यवहारनिर्वाहकत्वाद्व्यावहारिकाख्यो जीवः स्यादस्यानिर्वचनीयमायाकार्यत्वेन प्रकृतिलक्षणविकारित्वात्सकलसंसारनिर्वाहकत्वात्सच्चिदानन्दब्रह्मात्मैक्यस्वरूपावस्थानलक्षणमोक्षदशायाम - भावाच्च व्यावहारिकजीव इत्युक्तम् ॥१६॥

ननु व्यावहारिकजीवस्य सकलसंसारनिर्वाहकत्वेऽपि मिथ्याभूतत्वान्नित्यमुक्तस्य साक्षिणः संसाराभावाच्चोभयोरपि मोक्षानधिकारादन्यस्य कस्यचिदधिकारिणोऽभावाच्च मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं स्यादित्यत आह—

अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते ।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥१७॥

अस्येति ॥ अस्य व्यावहारिकजीवस्य जीवत्वं जीवभावः आरोपादावरणशक्तिकृतादन्योऽन्याध्यासात्साक्षिण्यपि दृग्रूपे प्रत्यगात्मन्यपि जीवत्वं साक्षिणि प्रत्यगात्मनि परमार्थतो जीवत्वासम्भवं द्योतयत्यपिशब्दः, अवभासते प्रकाशते स्वरूपचैतन्यावगतित्वेन

भासते इति भावः। तुशब्दोऽवधारणे। आवृतावसत्त्वावृतिरूपेणा-भानावृतिरूपेण च द्विप्रकारमायावरणशक्तौ अहं ब्रह्मास्मीत्यखण्डै-करसब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण विनष्टायां विशेषेण नष्टायां सत्यां पुन-र्भ्रान्त्यनुदयो नाशविशेषः आत्यान्तिकनाशं प्राप्तायामित्यर्थः। भेदे भाते व्यावहारिक जीवस्वरूपस्य लिङ्गशरीरस्य घटादिवद्दृश्यत्वं प्रत्यग्बोधस्वरूपस्य साक्ष्याख्यस्य स्वस्य द्रष्टृत्वञ्च भेदस्तस्मिन् सम्यक् प्रकाशिते सति साक्षिण्यारोपितं तज्जीवत्वमपयात्यप-गच्छत्येवेत्यत्र तु शब्दः सम्बध्यते यस्मादेवं तस्माच्छास्त्रवैयर्थ्यं न स्यादित्यभिप्रायः ॥१७॥

यथा व्यावहारिकजीवगतं जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते तथा नामरूपात्मकः सर्गगतो विकारः आरोपाद्ब्रह्मण्यप्यवभासते इत्याह—

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति।
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥१८॥

तथेति ॥ यथान्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदमाच्छादयति तथा सर्गब्रह्मणो-र्भेदं चावृत्य या आवरणशक्तिस्तिष्ठति तद्वशात्तदावरणशक्ति-कृतादन्योऽन्याध्यासवशाद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणः परमात्मा विकृ-तत्वेन भासते स्वयं कूटस्थमपि षड्भावविकारशून्यमपि तद्वत्त्वेन भासते इत्यर्थः ॥१८॥

बाह्येऽप्यावृतिनाशेन सर्गब्रह्मभेदस्फुरणात् ब्रह्मण्यारोपितो विकारो निवर्त्तते इत्याह—

अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः।
भेदस्तयोर्विकारं स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥१९॥

अत्रेति ॥ अत्रापि यथान्तस्तथा बाह्येऽप्यावृतिनाशेनान्वयव्यति-रेकाभ्यामन्तर्बहिश्च पदार्थद्वयपरिशोधनपूर्वकेणाहं ब्रह्मास्मीत्य-

भिव्यक्तेन सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मात्मबोधेन उक्तलक्षणायामावरण-शक्तौ वासनया सह विनष्टायां सत्यां तेनावृतिनाशेन ब्रह्मसर्गयो-र्भेदो विभाति घटपटयोरिव भेदः सम्यक् प्रकाशते । एवं भेदे भाते सति तयोर्ब्रह्मसर्गयोर्मध्ये नामरूपात्मके सर्गे एव जन्मादिविकारः स्यान्न ब्रह्मणि क्वचिदानन्दलक्षणे ब्रह्मण्येकदेशेऽपि विकारो न स्यादित्यर्थः ॥१९॥

एवमन्तर्बहिश्चावृतिकार्य्यतादात्म्यवशात् साक्षिब्रह्मणोर्भोक्तृ-त्वभोग्यत्वादिरूपविकारं तदावृतिनाशेन तत्कृतविकारनिवृत्तिश्च दर्शयित्वा इदानीं ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वप्रदर्शनद्वारेण त्वंपदार्थमप्य-र्थाद्विवेचयन् मुखतस्तत्पदार्थं विविनक्ति—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥२०॥

अस्तीति ॥ अस्ति विद्यते भाति प्रकाशते प्रियं प्रेमास्पदं रूपं जगद्रूपं पृथुबुध्नोदरोतप्रोतादिकं नाम घटः पट इत्यादिकमेतत्सर्वं मिलित्वांशपञ्चकमिदमेकं वस्तु अस्तीदं भातीदं प्रियमिदमस्य स्वरूपमिदमस्य नामेत्येतदंशपञ्चकव्यतिरेकेण व्यवहारासम्भ-वाल्लोकव्यवहारगोचरभूतं भौतिकात्मकं समस्तं वस्त्वपि सच्चि-दानन्दरूपं नामलक्षणांशपञ्चात्मकमेव भवतीति यावत्, अंशपञ्चक-समुच्चयार्थश्चशब्दः । एतेष्वंशेषु मध्ये आद्यत्रयं सच्चिदानन्दा-त्मकमंशत्रयं ब्रह्मरूपं ब्रह्मस्वरूपं ततो द्वयं तस्मात्सच्चिदानन्दा-त्मकांशत्रयादुपरितनं नामरूपात्मकमंशद्वयं जगद्रूपमित्यर्थः ॥२०॥

उक्तमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्पष्टयति—

खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु ।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी ॥२१॥

खमिति ॥ आकाशवायुतेजोऽम्बवन्नाख्येषु पञ्चभूतेषु देवतिर्यङ्-

नरादिभेदभिन्नेषु शरीरलक्षणेषु भौतिकेषु वर्त्तमानाः सच्चिदानन्दाख्यत्रयोऽप्यंशा अभिन्ना निर्विशेषाः स्युर्घटोऽस्ति पटोऽस्ति घटो भाति पटो भाति घटः प्रियः पटः प्रिय इति सर्वत्रानुवृत्तस्वभावत्वाद्रूपनामनी भूतेषु भौतिकेषु च वर्त्तमानौ रूपनामात्मकौ उभावप्यंशौ भिद्येते ईदृग्रूपस्तादृग्रूपो घटः पट इत्यादिभेदभिन्नत्वेन वर्त्तेते अनिर्वचनीयमायाकार्यत्वेन व्यावृत्तस्वभावत्वात् ॥२१॥

एवं प्राक्तनग्रन्थसन्दर्भेणान्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थद्वयं परिशोध्येदानीं नामरूपोपेक्षापुरःसरं सच्चिदानन्दतत्परोभूत्वा वाक्यश्रवणाङ्गत्वेन वाक्यार्थज्ञानसाधनभूतं वक्ष्यमाणभेदभिन्नं समाधिं हृदये वा बाह्ये वा निरन्तरं कुर्यादित्याह—

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ।

समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथवा बहिः ॥२२॥

उपेक्ष्येति ॥ जगद्रूपे नामरूपे द्वे उपेक्ष्यावज्ञाय उदासीनीकृत्य सच्चिदानन्दतत्परः सच्चिदानन्दरूपब्रह्मात्मन्येव तात्पर्य्यवान् तदेकचित्त इत्यर्थः। तादृशो भूत्वा समाधिं वक्ष्यमाणं चित्तसमाधानं सर्वेन्द्रियाण्यपि हृदयकमले निरुध्य तत्र तत्र वागादीन्द्रियाणां स्वस्वगोलकावस्थानेऽपि तेषां वृत्तिमात्रं निरुध्य शरीरादन्तर्बाह्ये देशे वा वक्ष्यमाणप्रकारेण निरन्तरं कुर्यादित्यर्थः। विधिमुखतः समाधिं विधायानेन श्लोकेन प्रतिपादितं पदं प्रति परमहंसस्यैव ब्रह्मज्ञानाधिकारो नान्यस्येत्यर्थादुच्यते एतत् श्लोकार्थानुष्ठानस्यान्यस्मिन्नसम्भवात् परमहंसस्यैव सम्भवाच्च ॥२२॥

एवं ब्रह्मजिज्ञासुं मुमुक्षुं प्रति निदिध्यासितव्य इत्येतद्वाक्यानुसारेणावश्यकर्त्तव्यत्वेन समाधिं विधायेदानीं तस्य समाधेरवान्तरभेदं दर्शयन्नेतान् समाधीन् हृदये कुर्यादित्याह—

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि ।

दृश्यशब्दानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥२३॥

सविकल्प इति ।। सविकल्पसमाधिर्निर्विकल्पसमाधिरिति समाधिर्द्विविधो द्विप्रकारो भवेत्। दृश्यानुविद्धः सविकल्पकः शब्दानुविद्धः सविकल्पकः इति सविकल्पसमाधिरपि द्विप्रकारो भवेत्, एवमुक्तप्रकारेण दृश्यानुविद्धः सविकल्पकसमाधिः शब्दानुविद्धः सविकल्पकसमाधिर्निर्विकल्पकश्चेति त्रिप्रकारं समाधिं क्रमेण हृदये कुर्यादिति शेषः। दृश्यमिश्रो दृश्यानुविद्धः, शब्दमिश्रः शब्दानुविद्धः ।।२३।।

सविकल्पो निर्विकल्पश्चेति सविकल्पस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्तत्रापि दृश्यशब्दानुविद्धेनेति दृश्यानुविद्धस्यैव प्रथमोद्दिष्टत्वादन्तर्दृग्दृश्यविवेकं दृगेकनिष्ठं दृश्यानुविद्धं सविकल्पसमाधिं तावद्दर्शयति—

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।।२४।।

कामाद्या इति ।। कामाद्याः कामसङ्कल्पादयः पूर्वोक्ताश्चित्तगाः अन्तःकरणवृत्तित्वेनान्तःकरणनिष्ठाः दृश्याः कर्मभूताः युष्मत्प्रत्ययविषयाः भवन्तीति शेषः। तत्साक्षित्वेन तेषां कामादिचित्तगतदृश्यानां प्रकाशकत्वेन चेतनमात्मानं प्रत्यक्चैतन्यं ध्यायेत्। एतदुक्तं भवति। तेषां कामादीनां मध्ये एकमेकं प्रतियोगिनं कृत्वा अस्य कामस्य यत्साक्षिभूतं चैतन्यन्तदेव मम यथार्थस्वरूपमित्येवं निरन्तरं प्रत्यग्रूपं चिन्मात्रं भावयेदिति। एवमुक्तप्रकारेण चिन्मात्रे भाविते सत्ययं दृश्यानुविद्धः सविकल्पसमाधिरित्युच्यते इति शेषः।

"नर्त्ते स्याद्विक्रियां दुःखी, साक्षिता का विकारिणः।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ।।'

इति नैष्कर्म्यसिद्धिकारैरुक्तत्वात् ।।२४।।

एवं दृश्यप्रतियोगिकं सविकल्पकसमाधिं दर्शयित्वा इदानीं

क्रमप्राप्तं कामाद्यशेषदृश्यविलापकं साक्षिनिष्ठं शब्दानुविद्धसवि-
कल्पकसमाधिं दर्शयति—

असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥२५॥

असङ्ग इति ॥ असङ्गः सङ्गरहितः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः, सच्चिदानन्दः सत्यज्ञानानन्दस्वरूपः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे' त्यादि श्रुतेः स्वप्रभः स्वयंप्रकाशः "अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोतृ, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येदि" त्यादिश्रुतेः, द्वैतवर्जितः प्रकाश्यस्य प्रकाशाभिन्नत्वेन कामाद्यशेषरहितः स्वगतादिभेदरहित इत्यर्थः "एकमेवाद्वितीयमि"तिश्रुतेः, एवमुक्तलक्षणः प्रत्यग्रूपो यः साक्षी अयमहमस्मीति निरन्तरं भावयेत्, एवमुक्तप्रकारेण कामाद्यशेषवृत्तिविलापकोऽसङ्गादिशब्दमात्रमिश्रितो विजातीयप्रत्ययशून्यसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणः प्रत्यक्चिन्मात्रविषयकश्चिदाभासनिष्ठो योऽनुभवः अयं शब्दानुविद्धः सविकल्पकसमाधिरित्युच्यते इति शेषः, 'निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि, स्वस्थोऽस्म्यस्मि च निस्पृहः । शान्तोऽहमर्थरूपोस्मि, चिरायाहमलं स्थितः ।" इति वसिष्ठवचनात् ॥२५॥

एवं द्विप्रकारं सविकल्पकसमाधिं दर्शयित्वा इदानीं कामादिदृश्यानामसङ्गादिशब्दानां विलापकं निवातस्थितदीपवच्चित्तनैश्चल्यात्मकं निर्विकल्पसमाधिं दर्शयति—

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः ।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥२६॥

स्वानुभूतिरिति ॥ अनुभूतिर्ज्ञानं प्रत्यक्चैतन्यं

"याऽनुभूतिरजाऽमेया स्वनन्तानन्दविग्रहा ।
महदादिजगन्मायाचित्रभित्तिं नमामि ताम् ॥"

इति इष्टसिद्धिकारैरुक्तत्वात्, रस आनन्दस्वरूपः परमात्मा 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति श्रुतेः। प्रत्यगात्मापि रसाभिन्नत्वेन परमप्रेमास्पदत्वाद्रसस्वरूपभूता अनुभूतिः स्वानुभूतिरेव रसस्तस्यावेशः स्वानुभूतिरसावेशः पूर्वोक्तसमाधिद्वयाभ्यासपाटवादन्तःकरणे स्वरूपभूतज्ञानानन्दाविर्भावः स्वानुभूतिरसावेशः इत्युच्यते। यद्वा आवेशोऽभिनिवेशो मग्नत्वं स्वानुभूतिरसावेशः यद्वा आसमन्तात्प्रवेश आवेशः स्वरूपज्ञानानन्दपूर्णत्वं, यद्वा देवताद्यावेशवत् स्वानुभूतिरसस्यावेशस्तस्मात्स्वानुभूतिरसावेशात्, 'स्वानुभूतिरसास्वादात्' इति पाठे चिदानन्दस्वरूपोऽहमिति स्वानुभूतिरसस्यात्मत्वेन स्वीकरणं स्वानुभूतिरसास्वादस्तस्मात्, दृश्यशब्दानुपेक्षितुः पूर्वोक्तान् कामादिदृश्यान् असङ्गादिशब्दांश्चोपेक्षितुरुदासीनकर्त्तुरुभयत्र तात्पर्य्यराहित्येन तूष्णीं स्थितस्य देवताद्याविष्टवत् स्वानुभूतिरसाख्यमहाग्रहग्रस्तत्वेन स्वातन्त्र्याभावात् परतन्त्रतया स्थितस्येति तात्पर्य्यार्थः, निर्विकल्पः समाधिः स्यात्—

"प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम्।
असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः॥"

इत्युक्तलक्षणो निर्विकल्पः समाधिरुक्तलक्षणस्याधिकारिणः स्वयमेव स्यात् लयविक्षेपकषायादिप्रतिबन्धाभावादसम्प्रज्ञाताख्यो निर्विकल्पः समाधिः स्वयमेव भवतीत्यर्थः। तस्मिन् समाधौ चित्तनैश्चल्ये दृष्टान्तमाह निवातस्थितदीपवदिति। निवातस्थले स्थापितो दीपो यथा निश्चलो भवति तथा समप्राप्तं चित्तमपि निश्चलं भवतीत्यर्थः। 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्, तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः। व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वया निरोधपरिणामः।' इति पतञ्जलिना सूत्रितत्वात्।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

इत्यादिभगवद्वचनात् ।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ ऐवार्णवे ।
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यदिष्टं तन्मयो भव ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभ्यासमात्मानं केवलं भज ॥
प्रशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा: ॥

इति वसिष्ठवचनाच्च ।

अस्य समाधेर्वाक्यश्रवणाङ्गत्वञ्च तत्त्वविवेकाख्ये ग्रन्थे श्रीमद्विद्यारण्य गुरुभिर्निरूपितम् ।

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये ।
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥

इति ॥ २६ ॥

एवं हृदयसम्बन्धित्वेन दर्शितं त्रिप्रकारमिमं समाधिं बाह्यसम्बन्धित्वेनापि दिदर्शयिषुर्बहिर्ब्रह्मसर्गविवेकं सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मनिष्ठं दृश्यानुविद्धसमाधिं तावद्दर्शयति—

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यः सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥२७॥

हृदीति ॥ यथा हृदये साक्षिणः सकाशात् कामादीनांपृथक् क-

रणमाद्यः समाधिः, एतदुक्तं भवति यथा हृदि कामादीनां मध्ये एकैकं प्रतियोगिनं कृत्वा स्वात्मनः सकाशात् नामरूपयोः पृथक्करणमस्य साक्षिभूतं यच्चैतन्यं तदेवाहमस्मीत्यनुचिन्तनं दृश्यानुविद्धः समाधिरित्युच्यते तथा बाह्योऽपि स्वाभीष्टमेकं वस्त्ववलम्ब्यांशपञ्चके तस्मिन् वस्तुनि वर्त्तमानात् सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मणः सकाशान्नामरूपे पृथक्कृत्यानयोः पृथक्कृतयोर्नामरूपयोरधिष्ठानभूतं सच्चिदानन्दलक्षणं यद्वस्तु तदेव तत्पदलक्ष्यं ब्रह्मेत्यनुचिन्तनं दृश्यानुविद्धः समाधिरित्युच्यते इति ।

यत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी ।
रज्ज्वां भुजङ्गवद्भाति सोऽहमात्मा सदोदितः ॥

इत्यादि वसिष्ठवचनाच्च ॥ २७ ॥

एवं दृश्यानुविद्धसमाधिं निरूप्येदानीं समष्टिव्यष्ट्यात्मकसमस्तदृश्यप्रपञ्चविलापकं शब्दानुविद्धसमाधिं निरूपयति—

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत् ॥२८॥

अखण्डैकरसमिति ॥ अखण्डं देशकालाद्यपरिच्छिन्नं स्वगतादिभेदरहितमिति यावत्, एकमेवाद्वितीयमि'ति श्रुतेः ।

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥

इत्येतत्तैरेव पञ्चकोषविवेकाख्ये ग्रन्थे उपपत्तिभिरखण्डत्वस्य समर्थितत्वाच्च । एकरसं कालत्रयेप्येकरूपं कूटस्थमित्यर्थः । 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' इति भगवद्वचनात्, अखण्डञ्च तदेकरसञ्चेत्यखण्डैकरसं सच्चिदानन्दलक्षणं स्पष्टोऽर्थः । एवमुक्तलक्षणं यद्वस्तु तदेव ब्रह्मेत्यविच्छिन्नचिन्ता विजातीयप्रत्य-

यानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा या चिन्तेयं मध्यमः समाधिर्भवेत् शब्दानुविद्धसविकल्पकः समाधिर्भवेदित्यर्थः ।

एवं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम् ।
नीरन्ध्रभूरिवाशेषमिति भावय राघव ॥
नाहं न चान्यद्वाऽस्तीति ब्रह्मैवाऽस्मि निरन्तरम् ।
आनन्दपूर्णः सर्वत्राप्यनुद्वेगादुपास्यताम् ॥

इति वसिष्ठवचनात् ॥ २८ ॥

एवं ब्रह्मविषयं द्विप्रकारं सविकल्पकसमाधिं निरूप्येदानीं पूर्वोक्तसमस्तदृश्यशब्दविलापकनिर्विकल्पसमाधिप्रदर्शनपूर्वकमुक्त-लक्षणैरेतैः षड्भिः समाधिभिर्निरन्तरं कालं नयेदित्याह—

स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः ।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥२९॥

स्तब्धीभाव इति ॥ रसशब्दो व्याख्यातः, आन्तरस्य त्रिप्रकारस्य समाधेर्विषयभूतस्य साक्षिणः साक्षित्वसिद्ध्यर्थं ब्रह्माभिन्नत्वं बलादङ्गीकर्तव्यमन्यथा समाध्यवलम्बाभावाद्बाह्यस्य त्रिप्रकारस्य समाधेर्विषयभूतस्य ब्रह्मणोऽपि सर्वात्मकत्वसिद्ध्यर्थमात्माभिन्नत्वं बलादङ्गीकर्तव्यमेवं ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वे सिद्धे सति स्वस्यापि रसरूपेऽस्मिन्परे ब्रह्मण्यन्तःपातित्वेन स्वस्यापि रसरूपस्वीकारो रसास्वाद इत्युच्यते । तस्माद्रसास्वादात्पूर्वोक्तान्तरनिर्विकल्पकसमाधिवदत्रापि द्विप्रकारसविकल्पकसमाध्यभ्यासपाटवेन भूमानन्दास्वादाद्व्यष्टिसमष्ट्यात्मकसमस्तदृश्यप्रपञ्चमखण्डैकरसादिशब्दजातं चोपेक्ष्यास्वादिभूमानन्दपरतन्त्रत्वेनावस्थितस्य चित्तस्य निवातस्थले स्थापितदीपस्येव यः स्तब्धीभावो निश्चलत्वं स एव तृतीयो मतो निर्विकल्पकसमाधिरित्यभिप्रेतो विद्वद्भिरिति शेषः । निर्विकल्पकसमाधेरान्तर्बाह्यमात्रविशिष्टविशेषभावात्पूर्वोक्तवचनान्येवाऽत्रापि प्रमाणान्येवमुक्तलक्षणैरेतैः षड्भिः समाधिभिरेव मुमुक्षुनि-

रन्तरं कालं नयेत्, कालमित्यनेन समाधीनां दीर्घकालकर्त्तव्यत्वं द्योत्यते, तत्रापि नैरन्तर्येण कर्त्तव्यत्वं निरन्तरशब्देनोच्यते, काल-निरन्तरशब्दौ सत्कारस्याप्युपलक्षकौ, 'दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कार सेवितो दृढभूमि' रिति पतञ्जलिना सूत्रितत्वात् ॥२९॥

एवमन्तर्बहिश्च मिलित्वा षड्विधान् समाधीन् दीर्घकालनैर-न्तर्यसत्कारपूर्वकं मुमुक्षोरवश्यङ्कर्त्तव्यत्वेन विधायेदानीं पूर्वोक्त-प्रकारेणान्वयव्यतिरेकाभ्यामन्तर्बहिश्च पदार्थद्वयपरिशोधनेन देहा-भिमाने गलिते परमात्मनि च विज्ञाते सत्युक्तलक्षणाः षड्विधाः समाधयश्च अन्तर्बहिर्वा यत्र यत्र मनो गच्छति तत्र तत्र स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते इत्याह—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥३०॥

देहाभिमानेति ॥ रूपं दृश्यमित्यारभ्यास्य जीवत्वमारोपादित्यन्तेन श्लोकपर्यन्तेन ग्रन्थेन प्रदर्शितन्यायमनुसृत्य सम्यक् कृतेनान्तर्दृग्दृश्य-विवेकेनास्मदर्थे साक्ष्यात्मत्वाभिमानादहङ्कारादिदेहान्तेषु युष्म-दर्थेष्वहं कर्त्ताऽहं मनुष्य इत्याद्यात्मत्वाभिमाने गलिते शिथिलीभूते 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च' इत्यत्र दर्शितप्रकारेण सम्यक् कृतेन बहिर्ब्रह्मसर्गविवेकेन नामरूपात्मकं समस्तमिदं जगन्मिथ्या तदधिष्ठानभूतं सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्मैव सत्यमित्येवं परमात्मनि च विज्ञाते सत्यमेवमुक्तप्रकारेण गलितदेहाभिमानस्य विज्ञातपर-मात्मतत्त्वस्य मुमुक्षोरन्तर्बहिर्वा यत्र यत्र मनो गच्छति तत्र तत्रो-क्तलक्षणाः षडपि समाधयः स्वयमेव भवन्तीति शेषः । तीव्रवैरा-ग्यबलात्परमहंसाश्रमस्वीकारपूर्वकं ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तं सद्गुरु-सन्निधौ श्रीमच्छारीरकशास्त्रमवलम्ब्य निरन्तरं पौनःपुन्येन क्रियमा-णेन तत्त्वपदार्थविवेकेन गलितदेहाभिमानस्य विज्ञातपरमात्म-

तत्त्वस्य मुमुक्षोरुक्तलक्षणाः षड्विधाः समाधयः स्वयमेवानायासेन प्रवर्त्तन्त इत्ययमेव तात्पर्यार्थः। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा' दिति वैयासिकसूत्रानुसारेण।

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं बोधो यावद् दृढोभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥

इत्याचार्यैरुक्तत्वात् ॥ ३० ॥

वैराग्यसंन्यासादिश्रवणसाधने दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसहकृतश्रवणादिज्ञानसाधने च प्रयासं दृष्ट्वा ब्रह्मात्मैक्यलक्षणस्य ज्ञानफलस्याग्निहोत्रकार्यवत्सद्यः प्राप्त्यभावं च स्वबुद्धया कल्पयित्वा साधनानुष्ठानादुपरतं शिष्यं प्रति फलप्रदर्शनद्वारेण साधनानुष्ठाने तं प्रवर्तयितुं तस्य विश्वासार्थं परावरदर्शनफलप्रदर्शिनीं श्रुतिमेव पठति—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥३१॥

भिद्यते इति ॥ देहाद्बहिः सकलनामरूपात्मकेषु वस्तुषु सर्पाधाररज्जुरिव व्याप्तः सच्चिदानन्दलक्षणो यः परमात्मा स एव परशब्देनोच्यते, अन्तरहमादिदृश्यविलक्षणोऽस्मत्प्रत्ययालम्बनभूतः प्रत्यक्चिन्मात्ररूपः साक्ष्याख्यो यो जीवात्मा स एवावरशब्देनोच्यते, परश्चासाववरश्चेति परावरः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा। तस्मिन् परावरस्यैव स्वयंप्रकाशत्वेनावाङ्मनसगोचरत्वमुच्यते, तच्छब्देनावाङ्मनसगोचरे ब्रह्मात्मनीत्यर्थः। यद्वा परावरविभागाधिष्ठानभूतं शुद्धचैतन्यं तच्छब्देनोच्यते, तस्मिन् पक्षे पररूपेण वा अवररूपेण वाऽवस्थिते परमार्थतः परावरविभागरहिते स्वगतादिभेदरहिते कूटस्थे शुद्धचैतन्ये इत्यर्थः। तस्मिन्परावरे तस्मिन्निति पक्षद्वयेऽप्येक एव फलितोऽर्थः। परावरस्यैव शुद्धचैतन्यत्वा-

च्छुद्धचैतन्यस्यैवावाङ्मनसगोचरत्वाच्च। तस्मादुक्तलक्षणे तस्मिन् परावरे दृष्टे सति "त्वं वाहमस्मि भगवो देवते अहं वा त्वमसी"ति।

"तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवाधिदेवाय पराय परमात्मने॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुसारेणाहं ब्रह्मास्मि ब्रह्मैवाहमस्मीति व्यतिहारेणाखण्डैकरसत्वेन करतलामलकवत् साक्षात्कृते सति अस्यैव साक्षात् कृतवतोऽधिकारिणो हृदयग्रन्थिर्भिद्यते। हृदित्यहङ्कारोऽयमित्यपरोक्षरूपः साक्षी अन्योन्यतादात्म्येन तयोरुभयोरपि स्वरूपं मिलित्वा हृदयग्रन्थिरित्युच्यते 'अहङ्कारस्य कर्तृत्वं चित्यध्यस्य तथा चितः। स्फूर्त्तिश्चाहङ्कृतौ ग्रन्थिं कुर्वन्माया तयोर्ध्रुवम्॥" इति वचनात् हृदयशब्दवाच्यं तादात्म्यमेव ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः। यद्वा हृदित्यहङ्कारोऽयमिति साक्षी तयोस्तादात्म्यं हृदयग्रन्थिरुच्यते, एवमुक्तलक्षण आवृत्तिरूपमायाकार्योऽयं हृदयग्रन्थिर्भिद्यते मुच्यते चशब्देदंशब्दौ सर्वत्रानुवर्त्तेते, एवं हृदयग्रन्थौ भिन्ने सत्यस्य सर्वसंशयाश्छिद्यन्ते च "परमार्थतो ममैव ब्रह्मत्वमस्ति वा न वा, ब्रह्मत्वेऽपि तादृग्रूपत्वं मम साक्षात्कृतं वा न वा, साक्षात्कृतेऽपीतः परं ममापि कर्त्तव्यमस्ति वा न वा, कर्त्तव्याभावेऽपीदानीं मम जीवन्मुक्तत्वमस्ति वा न वा, जीवन्मुक्तत्वेऽपि वर्त्तमानदेहपातानन्तरभाविनी विदेहमुक्तिर्भविष्यति वा न वा, विदेहमुक्तिप्राप्तावपि कालान्तरे पुनर्जन्म भविष्यति वा न वा" इत्यादिसंशयाश्छिद्यन्ते च संशयरूपाः पाशाश्च परावरदर्शनशस्त्रेण खण्ड्यन्त इत्यर्थः। एवं सर्वसंशयेषु भिन्नेषु सत्सु अस्य कर्माणि च क्षीयन्ते, परावरदर्शनस्य देहारम्भनिरोधकत्वेऽपि वर्त्तमानदेहारम्भसमये तस्याविद्यमानत्वेन तन्निरोधकत्वासम्भवात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति' रित्यादिश्रुतेश्च प्रारब्ध-

कर्मणां भोगादेव क्षयादागामिकर्मणाञ्च परावरसाक्षात्कारसमये अविद्यमानत्वात् पश्चात्सर्वेषामपि तेषामसंश्लेषाच्च जन्मकोटि-सहस्रोपादानभूतानि सञ्चितान्यनारब्धशब्दवाच्यानि पुण्यापुण्य-मिश्ररूपाणि कर्माण्येवात्र कर्मशब्देन विवक्ष्यन्ते, तानि सर्वाणि च क्षीयन्ते परावरदर्शनाग्निना दग्धानि भवन्तीत्यर्थः। अन्यदृष्टि-माश्रित्यैव कर्मशब्दो व्याख्यातः। "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इत्यादिश्रुतिसहस्रेष्वस्याशरीरत्वश्रवणादशरीरस्य परावरदर्शनानन्तरमप्यागामिकर्मण एवासम्भवात् प्रारब्धकर्मणा फलभोगोऽप्यस्याशरीरस्याभिमानाभावादारब्धानारब्धरूपाणि सर्वं कर्माणि क्षीयन्त इति स्वदृष्ट्यनुसारोऽयमर्थो भिद्यते इत्यादिवर्त्त-मानप्रयोगेण ज्ञानसमकालमुक्तत्वं द्योत्यते, अत्र प्रमाणं "तद्धैतत्-पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तरति शोकमात्मवित्। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। एतावदरे खल्वमृतत्वमिति। तमेव विदित्वा-ऽतिमृत्युमेति। तमेवं विद्वानमृत इह भवति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" इत्यादिश्रुतयः।

"तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥"

इति शेषवचनम्।

दर्शनादर्शनेहित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्म ब्रह्मन् न ब्रह्मवित्स्वयम्।

इति वसिष्ठवचनम्।

"यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्।
तस्मात्कालात्समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेत्सदा॥"

इति पुराणवचनम्॥३१॥

एवमवरशब्दवाच्यस्य जीवस्य ब्रह्मत्वे दर्शिते सति रूपं दृश्यमित्यारभ्याऽस्य जीवत्वमारोपादित्येतच्छ्लोकपर्यन्तेन ग्रन्थेन दर्शितमर्थं विस्मृत्यास्य साक्षिणो ब्रह्मत्वमेव स्वरूपं चेत्तर्हि जीवत्वं नोपपद्यते, जीवत्वमेव स्वरूपं चेत्तदा ब्रह्मत्वं नैवोपपद्यते। उभयथापि शास्त्रनैरर्थक्यं स्यादित्याशङ्कमानं शिष्यं प्रत्यस्य साक्षिण एवं उपाधिवशाज्जीवत्वं स्वभावतो ब्रह्मत्वं चोपपद्यते। तस्माच्छास्त्रनैरर्थक्यमपि न स्यादिति प्रकरणपरिसमाप्तिपर्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण कृपया पुनर्विविच्य प्रदर्शयिष्यन्नवरशब्दवाच्यजीवस्यावान्तरभेदं तावद् दर्शयति—

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥३२॥

अवच्छिन्न इति ॥ अवच्छिन्नः परिच्छिन्नः परिपूर्णे परब्रह्मण्यविद्याहङ्काराभ्यामवच्छेद्यं यत्साक्षिचैतन्यं स एवावच्छिन्नाख्यः प्रथमो जीवः स्यात्, चिदाभासः चिल्लक्षणरहितस्तद्वदवभासमाना श्चिदाभासोऽन्तःकरणाख्ये अहङ्कारादिशब्दवाच्ये लिङ्गशरीरे प्रतिबिम्बितं यच्चैतन्य स एव चिदाभासाख्यो द्वितीयो जीवः स्यात्, स्वप्नावस्थायां नरपशुपक्ष्याद्यनेकशरीरलक्षणं परिगृह्य सर्वा दिशो यः परिभ्रमति स एव स्वप्नकल्पितस्तृतीयो जीवः स्यादेवं जीवस्त्रिप्रकारो ज्ञातव्यः, तेषु जीवेषु मध्ये आद्योऽवच्छिन्नाख्यः साक्षी पारमार्थिकः परमार्थभूतो ब्रह्मभूत इत्यर्थः ॥३२॥

नन्ववच्छिन्नजीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मभूतत्वं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्य तस्य स्वरूपनिरूपणद्वारेणारोपवशाज्जीवत्वं स्वभावतो ब्रह्मत्वं च तस्मिन्सम्भवतीत्याह—

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिन्जीवत्वमारोपाद्ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ॥३३॥

अवच्छेद इति ॥ अवच्छेदावच्छेद्ययोर्जीवत्वब्रह्मत्वयोश्च परस्परवैलक्षण्यद्योतकावुभावपि तुशब्दौ अवधारणवाचकौ वा, ब्रह्मभूते साक्षिण्यविद्याहङ्कारकृतो योऽवच्छेदः परिच्छेदः स आकाशे तलमलिनताद्यध्यासवदहङ्कारेणाध्यस्त एव स्यात् सुषुप्तावहङ्कारलये सत्यविद्याऽवच्छिन्नोऽहमहङ्कारावच्छिन्नोऽहमित्युभयविधस्यावच्छिन्नत्वस्याप्यभिमानाभावादविद्याहङ्काराभ्यां परिच्छेद्यं यत्साक्षिचैतन्यं तत् कालत्रयेऽप्येकरूपत्वाद्वास्तवमेव सत्यमेव स्यादेवं यस्मात्तस्मादुक्तलक्षणे तस्मिन् साक्षिणि चिदाभासद्वारेणाहङ्कारसाक्षिणोरन्योन्याध्यासादेव जीवत्वं स्यात् ।

'कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यामात्मरूपताम् । दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ।' इति वचनात् प्रकृते साक्षिणि ब्रह्मत्वं स्वभावत एव स्वतः सिद्धमेव स्यान्न तु चतुर्विधक्रियासाध्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एवमस्य साक्षिणश्चिदाभासाहङ्काराख्योपाधिवशाज्जीवत्वं स्वभावतो ब्रह्मत्वं चोपपत्तितो दर्शयित्वा इदानीमस्य साक्षिण एव ब्रह्मणा सहैक्यं वाक्यानि बोधयन्ति नेतरयोश्चिदाभासस्वप्नकल्पितयोरित्याह—

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ॥३४॥

अवच्छिन्नस्येति ॥ अविद्याहङ्काराभ्यामवच्छिन्नस्यात एव सद्वितीयवत्प्रतीयमानस्य पारमार्थिकजीवस्यैवाविद्याश्रयभूतत्वेन देशकालवस्तुभिरनभिप्लुतेन परमात्मना "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्येवमादिवाक्यानि ऐक्यं जगुरारोपितषष्ठ्यादिकमवलम्ब्य लक्षणावृत्त्या तात्पर्येणैक्यं बोधयन्तीत्यर्थः । चिदाभासस्वप्नकल्पितयोर्ब्रह्मणा सहैक्यं वाक्यानि न बोध-

यन्ति तयोर्मायाकार्यत्वेनावस्तुभूतत्वादित्यभिप्रायः। ननु प्रमाणफलस्य प्रमातृगामित्वादहं ब्रह्मास्मीति चिदाभासेनैव प्रतिपन्नत्वेन तस्यैव प्रमातृत्वात्कूटस्थस्य साक्षिणः प्रमातृत्वासम्भवेन प्रमाणफलाश्रयत्वानुपपत्तेः, काकस्य कार्ष्ण्यं धवलप्रासाद इतिवदन्यस्य फलमन्यस्य स्यादित्याचार्यैरसम्बद्धमेवोच्यते इति चेन्नैष दोषः, चिदाभासस्य साक्षिप्रतिबिम्बत्वेन तदर्थत्वादनिर्वचनीयमायाकल्पितत्वेनावस्तुत्वाच्चास्य प्रमाणफलाश्रयत्वानुपपत्तेः साक्षिणश्चिदाभासाधिष्ठानत्वेन तदात्मत्वात्परमार्थरूपत्वाच्च प्रमाणफलाश्रयोपपत्तेः।

"प्रत्ययी प्रत्ययश्चैव यदाभासौ तदर्थता।
तयोरचितिमत्त्वाच्च चैतन्ये कल्प्यते फलम्॥
कूटस्थेऽपि फलं योग्यं राजनीव जयादिकम्।
तदनात्मत्वहेतुभ्यां क्रियायाः प्रत्ययस्य च॥"

इत्याचार्यैः कूटस्थस्य साक्षिणोऽपि प्रमाणफलाश्रयत्वमस्तीति समर्थितत्वात्॥

"ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम्॥
नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान्।
आभासस्य च मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात्॥

इति तृप्तिदीपाख्ये ग्रन्थे तैरेवाचार्य्यैराशङ्क्य परिहृतत्वाच्च॥३४॥

एवं पारमार्थिकजीवस्य साक्षिण एव परिपूर्णानन्दपरमात्मनैक्ये सिद्धे सत्यन्तर्बहिर्व्यष्टिसमष्टिभावेन जीवपररूपस्याविद्यावच्छिन्नस्य तत्त्वतोऽनवच्छिन्नब्रह्मरूपस्यास्य साक्षिण एव भोक्तृभोग्यात्मकसमस्तप्रपञ्चाधिष्ठानत्वमन्तर्बहिश्चोपाधिभूतयोश्चिदाभासजगतोर्मायाकार्य्यत्वेन मिथ्यात्वं साक्ष्यनन्यत्वं तन्मात्रेणावशे-

षत्वं चोत्तरग्रन्थसन्दर्भेण दर्शयितुं साक्षिणो जीवजगदधिष्ठानत्वं जीवजगतोर्मायाकार्यत्वं च दर्शयति—

ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी ।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ॥३५॥

ब्रह्मणीति ॥ अत्रापि छन्दोभङ्गभयादेव पूर्वापरनिपातव्यत्यासः कृतः। शब्दतश्चार्थतश्च न पौनरुक्त्याख्यो दोषोऽत्र शङ्कनीयः, ब्रह्मात्मस्वरूपस्यालौकिकस्यातिसूक्ष्मत्वेन झटिति ज्ञातुमशक्यत्वात् अभ्यासेनैव प्रतिपत्तव्यत्वावच्छ्रुत्यैव नवकृत्व उपदिष्टत्वाच्च। सत्यादिलक्षणे ब्रह्मण्यवस्थिता आवृतिविक्षेपलक्षणशक्तिद्वयात्मिका अनिर्वचनीया माया स्वाश्रयभूतस्य ब्रह्मणोऽखण्डतामाच्छाद्य तस्मिन्नवच्छेद्यसाक्षिस्वरूपे ब्रह्मणि जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् पूर्वोक्त-प्रकारेण सृजेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये भोक्तृरूपस्य जीवस्यैव प्राधान्येपि पद्या-नुसारेण जगज्जीवावित्युक्तमर्थक्रमानुसारेण इदानीं तयोर्जीव-जगतोः स्वरूपं विविच्य दर्शयति—

जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत् ।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद्भूतभौतिकम् ॥३६॥

जीव इति ॥ कृष्यादिकं यज्ञादिकं श्रवणादिकं च कर्म करो-तीति कर्मकृत्, स्वार्जितमैहिकामुष्मिकफललक्षणं भोगं भुनक्ति इति भोक्ता। एवमुक्तलक्षणो यो धीस्थश्चिदाभासः स एव ब्रह्माश्रितमा-याकल्पितो जीव इत्युच्यते, हिशब्दो यस्मादर्थे, धीस्थश्चिदाभासः कर्मकृद्भोक्ता च यस्मात्तस्माज्जीवो भवेदित्यक्षरयोजना। भूतं पृथिव्यादि, भौतिकं देवतिर्यगादिशरीरजातं, भूतं च भौतिकं च भूतभौतिकं भोक्तृणां भोगाधिष्ठानभूतं तत्तच्छरीरानुरूपेण भोग्य-

रूपमिदं परिदृश्यमानं सर्वं भूतभौतिकं जगत्स्याज्जगदित्युच्यते ॥ ३६ ॥

एवं जीवजगतोः स्वरूपं दर्शयित्वा इदानीमनयोरनिर्वचनीयमायाकार्यत्वेन मोक्षदशायामभावाद्व्यवहारमात्रे स्थितत्वाच्चैतदुभयं व्यावहारिकमित्याह—

अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम् ।
व्यवहारे स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ॥३७॥

अनादिकालमिति ॥ अस्मिन् काले आरब्धे एते जीवजगती इति विचार्य्य केनापि निर्णेतुमशक्यत्वात् 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादी उभावपी'ति भगवद्वचनाच्च अनयोर्जीवजगतोरादिर्नास्त्येव "गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः, यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति, तस्य तावदेव चिरम्, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इत्यादिश्रुतेः ।

"तत स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं यत्किञ्चिदवशिष्यते ॥"

इति वसिष्ठवचनाच्च अनयोर्जीवजगतोर्वर्त्तमानदेहराहित्यलक्षणविदेहकैवल्यदशायामभावादन्तोऽस्त्येव यस्मादेवं तस्मादनादिकालमारभ्य वर्त्तमानदेहराहित्यलक्षणविदेहकैवल्यप्राप्तेः पूर्वं प्रमातृप्रमाणप्रमेयाद्यनेकावान्तरभेदभिन्नत्रिपुट्यात्मके व्यवहारे जीवजगदाख्यमिदं वस्तुद्वयं स्थितमुक्तलक्षणं व्यवहारमाश्रित्य वर्त्तते, तस्मादेतदुभयं व्यवहारिकं न तु पारमार्थिकं प्रातिभासिकं च, एवं जीवजगतोर्मायिकत्वं साक्षिणो जीवजगदधिष्ठानत्वं मुखत एव ब्रह्मण्यवस्थिता मायेत्यस्मिन् श्लोके दर्शितम्, अस्मिन् श्लोके तयोर्मुखतो व्यावहारिकत्वकथनद्वारा मिथ्यात्वं दर्शितमधिष्ठानानन्यत्वमधिष्ठानावशेषत्वं चार्थात्सूचितम् ॥ ३७ ॥

एवं ब्रह्मण्यवस्थितेत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैः प्रदर्शितमर्थं स्वप्नजीवजगदवलम्बनेन दृढीकरिष्यामीत्यभिप्रायेण स्वप्नजीव-जगतोर्निद्राकार्यत्वं दर्शयति—

चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृतिरूपिणी ।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत् ॥३८॥

चिदाभासस्थितेति ॥ व्यावहारिकजीवाख्यचिदाभासाश्रयाऽऽवृति-विक्षेपात्मिका तमोरूपा प्रसिद्धा निद्रा आवरणशक्त्याकारेण पूर्वे व्यावहारिकजीवजगती आवृत्य ततो निद्राश्रयत्वेन निद्रावच्छिन्नचि-दाभासस्वरूपं जाग्रत्समस्तप्रपञ्चसंस्कारसहिते देहस्थान्तर्नाडीमध्ये स्थितेऽस्मिन् निद्रावच्छिन्नचिदाभासाकारे विक्षेपशक्त्याकारेण नूत्ने नूतने जीवजगती कल्पयेत् पूर्वनूतनजीवजगतोर्व्यावहारिकप्राति-भासिकत्ववैलक्षण्यद्योतनार्थस्तुशब्दः, यथा निद्रा चिदाभासाश्रया तथा मायापि ब्रह्माश्रया यथा निद्राऽऽवृतिविक्षेपाख्यशक्तिद्वया-त्मिका तथा मायापि शक्तिद्वयात्मिका, यथा स्वप्नजीवजगतोर्नि-द्राकार्यत्वं तथा व्यावहारिकजीवजगतोरपि मायाकार्यत्वं, यथा निद्रावच्छिन्नचिदाभासाकारस्य स्वप्नजीवजगदधिष्ठानत्वं तथा मायावच्छिन्नसाक्ष्याख्यब्रह्माकारस्यापि व्यावहारिकजीवजगदधि-ष्ठानत्वं स्यात्तस्माद्ब्रह्मण्यवस्थिता मायेत्यनेन श्लोकेन प्रदर्शितेऽर्थे विप्रतिपत्तिहेतुः कोऽपि नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ३८ ॥

तुशब्देन द्योतितं वैलक्षण्यं स्पष्टयति—

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके ।
नहि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः ॥३९॥

प्रतीतिकाल इति ॥ प्रतीत्यनन्तरकालस्थितिं निषेधयत्येवकारः। प्रतीतिकाल एव वर्तमानत्वादेते स्वप्नजीवजगती प्रातिभासिके इत्युच्येते, इममेवार्थं व्यतिरेकमुखेनापि द्रढयति नहीति, एकस्मिन्

दिने स्वप्नं दृष्ट्वा तस्मात्प्रबुद्धस्य दिनान्तरे दृश्यमाने स्वप्ने पूर्वदिनस्वप्नसम्बन्धिनोर्जीवजगतोरवस्थितिर्नास्ति यस्मात्तस्मात्ते प्रातिभासिके एव न तु व्यावहारिके, पारमार्थिकत्वशङ्कैव नास्त्य-नयोरनेन प्रातिभासिकत्वकथनेन स्वप्नजीवजगतोः प्रतीतिकाल एव स्थितत्वात् पुनः स्वप्ने स्थित्यभावाच्च मिथ्यात्वं, तथा व्याव-हारिकजीवजगतोरपि अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वं स्थितत्वात्ततः परमभावाच्च मिथ्यात्वं यस्मात्तस्मादनादिकालमारभ्येत्यनेन श्लोकेन प्रदर्शितेऽर्थे विप्रतिपत्त्यवकाशो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ३९ ॥

एवं स्वाप्नजीवजगद्दृष्टान्तेन संक्षेपेण प्रदर्शितं व्यावहारिक-जीवजगतोर्मिथ्यात्वं पुनः स्वप्नदृष्टान्तमवलम्ब्य श्लोकत्रयेण द्रढ-यितुं दृष्टान्तभूतयोः स्वप्नजीवजगतोर्मिथ्यात्वं तावद्दर्शयति—

प्रातिभासिकजीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम् ।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः॥४०॥

प्रातिभासिकेति ॥ स्वप्नकल्पितप्रातिभासिकाख्यो यो जीवः स स्वप्नकल्पितं प्रातिभासिकाख्यं तज्जगद्वास्तवं मन्यते सत्यमित्यव-गच्छति न तु मिथ्येति स्वस्य यावदवस्थानं तावत्तस्याप्यवस्थित-त्वादन्योन्यपक्षव्यावृत्त्यर्थस्तुशब्दः प्रातिभासिकादन्यो व्यावहारि-काख्यो जीवस्तत्प्रातिभासिकं जगच्च तद्द्रष्टारं प्रातिभासिकं जीवं च मिथ्येति मन्यते न तु वास्तवमिति स्वप्नात्पूर्वं स्वप्ना-नन्तरं प्रबोधे च तयोरुभयोरप्यवस्थानाभावादिति भावः ॥४०॥

दृष्टान्तेन प्रदर्शितं न्यायं दार्ष्टान्तिके योजयति—

व्यावहारिकजीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम् ।
सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः ॥४१॥

व्यावहारिकेति ॥ उक्तलक्षणो यो व्यावहारिकजीवः स माया-कल्पितं तद्व्यावहारिकं जगत्सत्यं प्रत्येति वास्तवमित्यवगच्छति न

तु मिथ्येति, स्वस्य यावदवस्थानं तावत्तस्याप्यवस्थितत्वात्तस्मादन्यः पारमार्थिकजीवस्तद्व्यावहारिकं जगच्च तद्द्रष्टारं चिदाभासं च मिथ्येति मन्यते एतदुभयमसत्यमित्यवगच्छति न तु सत्यमिति नित्यप्रलयाख्यसुषुप्तौ तयोरनवस्थानस्यानुभवसिद्धत्वात्, "नासदासीन्नोसदासी"दित्यादिश्रुत्यनुसारेणानादित्वेपि "गताः कला" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण वर्तमानदेहराहित्यलक्षणविदेहकैवल्यदशायां तयोः प्रतीतिरप्यात्यन्तिकनाशस्य निश्चितत्वात्, श्रुत्याचार्यानुभववशात् स्वभावसिद्धे ब्रह्मात्मत्वे साक्षात्कृते सति भाविदेहराहित्यलक्षणजीवन्मुक्तिदशायां तयोर्व्यावहारिकजीवजगतोः कादाचित्कप्रतीतिसद्भावेऽपि तयोः सत्ताऽऽत्यन्तिकनाशस्य श्रुतियुक्त्यनुभवसिद्धत्वाच्च तस्मात्प्रातिभासिकजीवजगती यथा मिथ्याभूते तथा व्यावहारिकजीवजगती च मिथ्यास्वरूपे इति भावः ॥ ४१ ॥

मिथ्येति मन्यते पारमार्थिक इत्येतावता ग्रन्थेन प्रतिपादितमर्थं पुनर्द्रढयति—

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम् ।
प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना ॥४२॥

पारमार्थिकेति॥ अवधारणवाचकौ तुशब्दौ, पारमार्थिको जीवः साक्षात्परमात्मस्वरूपो वर्त्तमानदेहराहित्यलक्षणविदेहकैवल्यप्राप्तिपर्यन्तं ब्रह्म चिच्छब्दलक्ष्यं साक्षिस्वगतादिभेदरहितं बन्धमोक्षादिव्यवहारातीतं सच्चिदानन्दलक्षणं स्वस्वरूपं ब्रह्मैक्यमेव पारमार्थिकमित्यवगच्छति, नान्यद्वीक्षते 'यत्र नान्यत्पश्यति' 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादिश्रुतेः, वीक्षते त्वनृतात्मना, प्रबलप्रारब्धवशात्स्वरूपावस्थानाच्चिदाभासाकारेण व्युत्थितः सन् कदाचिज्जीवजगदादिकं यद्यपि वीक्षते तथापि मिथ्यात्वेनैव पश्यति न तु सत्यत्वेनेत्ययमेव तात्पर्यार्थः ॥ ४२ ॥

एवं प्रातिभासिकजीवजगद्दृष्टान्तेन व्यावहारिकजीवजगतो-

र्मायाकार्यत्वमत एव मिथ्यात्वं च दृढीकृत्येदानीं दृष्टान्तभूत-योर्जीवजगतोरधिष्ठानचिदाभासानन्यत्वं तन्मात्रेणावशेषत्वं च प्रसिद्धमपि पुनरपि बाह्यदृष्टान्तेन दृढीकृत्य तेन बाह्याभ्यन्तरदृष्टा-न्तद्वयेनापि व्यावहारिकजीवजगतोरधिष्ठानभूतसाक्ष्यनन्यत्वं तन्मात्रेणाविशेषत्वञ्च द्रढयितुमारोपिताकारस्याधिष्ठानानन्यत्वे बाह्यदृष्टान्तं तावद्दर्शयति—

माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरङ्गके ।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा ॥४३॥

माधुर्यमिति ॥ यथा दृष्टान्ते माधुर्यं च द्रवत्वं च शैत्यं च माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मा जलगुणाः जलस्योपरि वातवशात्तरङ्गे उत्पन्ने सति जलविवर्त्तत्वेन जलनिष्ठे तस्मिन्तरङ्गे अनुगम्याथ तरङ्गोत्पत्त्यनन्तरं तत्तरङ्गविवर्त्तत्वेन तरङ्गनिष्ठे फेनेऽप्यनुगता जलतरङ्गाः फेन इति भेदव्यवहारे विद्यमानेपि जलादीनां माधुर्य-द्रवशैत्यव्यतिरेकेण स्वरूपाभावतया तेषां माधुर्यद्रवशैत्यात्मकत्वा-त्पूर्वाधिष्ठानस्यैवोत्तरोत्तरव्यावृत्ताकारेण विवर्त्तमानत्वादुत्तरोत्तर-कार्यस्य पूर्वपूर्वाधिष्ठानानन्यत्वं प्रदर्शितमनेन श्लोकेन ॥ ४३ ॥

एवमारोपिताकारस्याधिष्ठानानन्यत्वं बाह्यदृष्टान्तेन दर्श-यित्वा तमेव न्यायं दार्ष्टान्तिके योजयति—

साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके ।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ॥४४॥

साक्षिस्था इति ॥ यथा दृष्टान्ते तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मस्व-रूपे साक्षिणि स्थिताः स्वरूपलक्षणशब्दवाच्याः सत्यज्ञानानन्दाः साक्षिगुणास्तरङ्गे जलगुणानां सम्बन्धवद्व्यावहारिकजीवजगतोः सम्बन्धाद्व्यावहारिकजीवजगद्व्यवधानेन प्रातिभासिकजीवजगतो-रप्यनुवृत्ता भवन्ति । व्यावहारिकः प्रातिभासिक इत्येतौ व्यावहा-

रिकप्रातिभासिकजगतोरप्युपलक्षणे, जीवयोस्तज्जगदन्तःपातित्वेन जगद्व्यतिरेकेणाभावात् । साक्षिस्था इत्याधाराधेयभावो गुणगुणिभावश्च राहोः शिर इतिवदौपचारिकः, प्रातिभासिकजीवजगतोश्चिदाभासविवर्त्तकत्वे स्वभावतः प्रसिद्धेऽपि तरङ्गस्थानीयचिदाभासस्थाः सच्चिदानन्दा एव फेनस्थानीयप्रातिभासिकजीवजगतोरप्यनुगता इति पुनरप्येवं निश्चिते सति यथा तयोः प्रातिभासिकयोर्जीवजगतोश्चिदाभासानन्यत्वं यथा वा जलस्थमाधुर्यादीनामेव तरङ्गेऽप्यनुगतत्वेन तरङ्गस्थजलानन्यत्वं यथा जलस्थानीये साक्षिणि स्थितानां माधुर्यादिस्थानीयानां सच्चिदानन्दानामेव तरङ्गस्थानीययोश्चिदाभासजगतोरप्यनुगतत्वेन तयोः ब्रह्मभूतसाक्ष्यनन्यत्वं सिद्धमिति भावः ।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥

इत्यादिश्रुतेः ॥ ४४ ॥

एवं व्यावहारिकजीवजगतोरधिष्ठानभूतसाक्ष्यनन्यत्वं दृष्टान्तमुखेन दर्शयित्वा तदेव पुनरधिष्ठानावशेषत्वेन द्रढयितुं पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तं दर्शयति—

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके ।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥४५॥

लये इति ॥ तरङ्गविवर्त्तस्य फेनस्य नाशे सति तत्फेनधर्माः द्रवमाधुर्यशैत्याख्याः फेनाधिष्ठाने तरङ्गे भवन्ति, जलविवर्त्तस्य तरङ्गस्यापि नाशे सत्येते द्रवाद्यास्तरङ्गफेनाद्युत्पत्तेः पूर्वं यथा सर्वाधिष्ठाने नीरे तिष्ठन्ति तथा तिष्ठन्त्येव कालत्रयेऽपि नीरस्य विद्यमानत्वात् तरङ्गफेनयोरविद्यमानत्वान्नीरजत्वान्नीरस्थत्वान्नीरलयत्वाच्च नीरव्यतिरेकेण तरङ्गफेनौ न स्त इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके ।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि॥४६॥

प्रातिभासिकेति ॥ अत्रापि प्रातिभासिकजीवजगतोर्लये सति तत्र स्थिताः सच्चिदानन्दाः जाग्रत्प्रपञ्चसंस्कारसहिते चिदाभासे भवन्त्यत्रापि तल्लये तज्जगतोऽप्युपलक्षणं, नित्यनैमित्तिकप्राकृतात्यन्तिकाख्येषु प्रलयेषु व्यावहारिकजीवजगतोर्लये सति तत्र स्थिताः सच्चिदानन्दाः सर्वाधिष्ठानभूते साक्षिण्येव पर्यवस्यन्ति निष्ठां प्राप्नुवन्ति, तस्याप्यधिष्ठानभूतस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावादेवं साक्षिणः कालत्रयेऽपि सद्रूपत्वात् व्यावहारिकजीवजगदादेः सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरञ्चाविद्यमानत्वात्तज्जत्वात्तत्रस्थत्वात्तल्लयत्वाच्च तल्लक्ष्यब्रह्माभिन्नसाक्षिव्यतिरेकेण व्यावहारिकजीवजगदादिर्नास्त्येवेत्यर्थः । चोरव्याघ्रादीनामाऽऽभिमुख्यागमनेन प्रातिभासिकजीवकर्तृकेण तद्दर्शनेन निद्रावच्छिन्नचिदाभासस्यैव निद्राश्रयभूतेन चिदाभासेनैक्यविषये जागरणाख्ये प्रबोधे जाते सति दिनान्तरे विद्यमानप्रातिभासिकजीवदृष्ट्या स्वरूपभूतचिदाभासाज्ञानपूर्वकसमस्तसंसारे विद्यमानेऽपि वर्त्तमानदिने चोरव्याघ्रादिदर्शनेन प्रबुद्धः प्रातिभासिकजीवः स्वदृष्ट्या शक्तिद्वयात्मकनिद्रात्यन्तिकनाशान्निद्राश्रयावच्छिन्नादिविभागरहिते एकरूपे चिदाभासे भृगुपतनादिकर्त्तेव स्वनाशेन चिदाभासपदं प्राप्तुमिच्छया प्रातिभासिकभोग्यरूपसमस्तप्रपञ्चेन सहाऽऽत्यन्तिकनाशं यथा प्राप्नोति तथा व्यावहारिकजीवोऽपि व्यावहारिकान्तरदृष्ट्या स्वरूपभूतप्रत्यगभिन्नसच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मताज्ञानमूलसमस्तसंसारे विद्यमानेऽपि चोरव्याघ्राद्याभिमुख्यागमनस्थानीयेन श्रुत्याचार्यानुग्रहेण प्रातिभासिकजीवकर्तृकतद्दर्शनस्थानीयेन स्वकर्तृकश्रवणाद्यनुष्ठानेन निद्रावच्छिन्नचिदाभासस्थानीयस्य मायावच्छिन्नस्य स्वभावतोऽनवच्छिन्नस्य ब्रह्मरूपस्य साक्षिण एव निद्राश्रयभूतचिदाभासस्थानीयेन पूर्णेन ब्रह्मणैक्यविषये

ब्रह्मविद्याख्ये प्रबोधे जाते सति स्वदृष्ट्या शक्तिद्वयात्मकमायात्यन्तिकनाशान्मायाश्रयावच्छिन्नादिभागरहिते अत एव स्वगतादिभेदवर्जिते सच्चिदानन्दलक्षणे ब्रह्मात्मनि देवत्वकामनया अग्निप्रवेष्टेव साक्षित्वमात्रावशेषवाञ्छया ब्रह्मसाक्षात्कारकालमारभ्य वर्त्तमानदेहराहित्यलक्षणविदेहकैवल्यप्राप्तिपर्य्यन्तं व्यावहारिकभोग्यरूपसमस्तप्रपञ्चेन सह शनैः शनैर्नाशं यात्यात्यन्तिकलयं प्राप्नोति।

देवत्वकामा अग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति॥
यावत्स्वदेहदाहः स्यान्नरत्वं नैव मुञ्चति।
यावदारब्धदेहः स्यान्नाभासत्वविमोचनम्॥

इत्येतत्तैरेव तृप्तिदीपाख्ये ग्रन्थे उपपत्त्या सह प्रदर्शितत्वात्तस्मादस्य चिदाभासस्य भ्रान्तिविवेकौ नित्यमुक्ते साक्षिण्यध्यस्तौ न वास्तवादित्येतत्तैरेव भारतीतीर्थगुरुभिरुपनिषत्संक्षेपवार्त्तिके सम्यक् निरूपितम्।

बोधात्पुरा तु चिद्भ्रान्त्या मग्ना भोक्तरि शोचति।
सा भ्रान्तिर्भोक्तृनिष्ठैव तद्विवेकोपि भोक्तृगः॥
भोगावान्तरभेदो हि भ्रान्तितद्बाधकावुभौ।
इतरारोपितत्वाच्च चित्यध्यस्तौ न वास्तवौ॥

इत्यस्य साक्षिणः साक्षित्वं साक्ष्यापेक्ष्यं न तु वास्तवमित्येदप्यद्वैतमकरन्दकारैर्निरूपितम्।

चैत्योपरागरूपा मे साक्षिताऽपि न तात्त्विकी।
उपलक्षणमेवेयं निस्तरङ्गचिदम्बुधेः॥

इति। चैत्यं जडपदार्थः, यस्मादेवं तस्मात् व्यावहारिकदृष्ट्यनुसारेण मायाश्रयत्वं मायाहङ्काराभ्यामवच्छिन्नत्वं नामरूपतादा-

त्म्येन भोग्यत्वं अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितचिदाभासाकारेण कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूपसंसारित्वं । "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मान-मेवावेदहं ब्रह्मास्मी"ति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मसाक्षात्कर्तृत्वं जीवन्मु-क्तत्वं च विदेहमुक्तत्वं च,

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥"

इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् परमार्थदृष्ट्यनुसारेण मायाश्रयत्वा-दिविदेहमुक्तित्वपर्य्यन्तसमस्तव्यवहारातीतत्वञ्च प्रत्यगभिन्नस्य सच्चिदानन्दलक्षणस्याद्वितीयस्यावाङ्मनसगोचरस्य ब्रह्मण एवोप-पद्यते, अत एव मोक्षशास्त्रस्यापि साफल्यं स्यादित्ययमेवास्य प्रक-रणस्य समस्तवेदान्तशास्त्रस्य महातात्पर्यत्वेन पिण्डीकृतोऽर्थः, तस्मात्सर्वमनवद्यमिति ॥ ४६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दभारती-
तीर्थमुनिवर्यशिष्यब्रह्मानन्दभारतीयप्रक्लृप्ता
वाक्यसुधाटीका सम्पूर्णा ॥